VEDA PRACHAR SERIES No. 4

वेदतत्त्वप्रकाश ।

(४)

श्राद्धनिर्णय ।

जिस को

छान्दोग्योपनिषद्भाष्यकार पञ्जाबाऽऽर्य्यप्रति-
निधिसभोपदेशक काव्यतीर्थ श्रीमान्
पं० शिवशङ्करजी ने रचा ।

और

श्रीमती आर्य्यप्रतिनिधिसभा पंजाब
की आज्ञानुसार ।

वैदिक यन्त्रालय, अजमेर में
मुद्रित हुआ ।

प्रथमावृत्ति १००० * सं० १९६४ * सन् १९०८ * मूल्य ।॥)

विज्ञापन ।
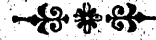
पञ्जाब आर्य्यप्रतिनिधिसभा स्थापित आर्य-पुस्तक-प्रचार विभाग की ओर से ४० ट्रैक्ट भिन्न २ विषयों पर उर्दू में मुद्रित हो चुके हैं इस के अतिरिक्त अंग्रेज़ी और आर्य-भाषा में निम्नलिखित पुस्तक छप चुके हैं जो देखने योग्य हैं:-

नाम पुस्तक	मूल्य
१-वैदिक धर्म का महत्त्व	-)
२-आर्यों के नित्यकर्म	-)॥
३-माण्डूक्योपनिषद् पं० गुरुदत्त-कृत व्याख्या का आर्यभाषा में अनुवाद	[illegible]
1—Beauties of Vedic Dharma	0[illegible]
2.—True Pilgrim's Progress	0-[illegible]

वैदिक धर्म्मका सेवक-

व[illegible]रचंद

अधिष्ठाता आर्य्यपुस्तक-प्रचार

जालन्धर शहर (पंजाब)

वक्तव्य

---:o:---

वेदतत्त्वप्रकाश के गत तीन भागों के समान इस में भी अर्थसहित और निर्णय के साथ अनेक मन्त्र दिये गये हैं। इस में भी पितृयज्ञ के निर्णय के साथ २ अनेकानेक निर्णय सन्निवेशित किये गये हैं ॥

श्राद्ध या पितृयज्ञ एक बड़ा गम्भीर और विचारणीय विषय है, इस विषय पर अब तक अनेक विचार हो चुके हैं, आर्यसमाज और धर्मसभा के उत्सवों पर प्रायः यही शास्त्रार्थ तथा व्याख्यान का विषय रहता है, इस पर अबतक अनेक पुस्तकें बन चुकी हैं, जिन में युक्ति और प्रमाणों द्वारा विचार किया गया है, परन्तु एतद्विषयक विवादास्पद वेदमन्त्रों पर अन्वेषणापूर्वक जैसा विचार होना चाहिये था, अब तक नहीं हुआ। इस विषय में वेद, ब्राह्मण, सूत्र और स्मृति आदि ग्रन्थों में जो लेख मिलते हैं उन की ठीक २ सङ्गति किसी पुस्तक में नहीं की गई थी, इस अभाव को दूर करने के लिये मैंने यह ग्रन्थ रचा है। इस में इस विषय की यथासंभव कोई बात नहीं छूटने पाई, यदि यह ग्रन्थ विचारशील पाठकों को पसन्द आया तो इस का दूसरा भाग भी उनकी सेवा में प्रस्तुत किया जायगा। जिसमें कि इस विषय के अन्यान्य मन्त्र और प्रमाण (जो इस में देने से रहगये हैं) सन्निवेशित किये जायंगे।

आशा है कि इसे ध्यानपूर्वक पढ़कर पाठक महोदय मेरे परिश्रम को सफल करेंगे।

अजमेर
ता० ६-३-०८ } शिवशङ्कर शर्मा
काव्यतीर्थ।

श्राद्धनिर्णय की विषयसूची ॥

वेद-तत्त्व-प्रकाश

चतुर्थ समुल्लास ॥

श्राद्धनिर्णय ।

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् । ऋ०।१०।१५।५
यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः। ऋ०।१०।१४।१५
पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः ।
जीवं व्रातं सचेमहि । यजुः । ३। ५५

इनका अर्थ आगे लिखा जायगा ।

ऋग्, यजु, साम और अथर्व ये चारों वेद ईश्वर-प्रदत्त हैं ऐसा सर्व शास्त्रों, स्मृतियों तथा पुराणादिकों का सिद्धान्त है । एवं मधुच्छन्दा, वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियों से लेके जैमिनि ऋषि पर्य्यन्त सब ऋषि धर्म्म के विषय में केवल इन चार

वेदों को ही प्रमाण मानते आए हैं और सहस्रों लाखों ग्रन्थों के नष्ट हो जाने पर भी संस्कृत भाषा में अभी लक्षों ग्रन्थ पाये जाते हैं सब ग्रन्थों को लेके किसी विषय का कोई निर्णय करने को तैयार होवे तो उसके लिये अत्यन्त कठिन होगा इस कारण जो ईश्वरप्रदत्त चारों वेद अनादि काल से चले आते हैं उन के ही आश्रयसे धर्म्म निरूपण करना सर्व मनुष्यों को उचित है इस हेतु यद्यपि मैं भी आज इस श्राद्धविषय का निर्णय मुख्यतया इन चारों के आधार पर ही करता हूं तथापि स्मृतिशास्त्रों और पुराणों के अभिप्राय को भी पदे २ दिखलाऊंगा। आप सब महाशय पक्षपात दुराग्रह और हठ को त्याग ईश्वर की ओर देख धर्म्म पर पूर्ण विश्वास रख इस निर्णय को देखें विचारें और सत्यासत्य का विवेक करें।

यह पितृ यज्ञ वा पितृ-श्राद्ध पूवकाल में जीवित अथवा मृत पितरों का होता था इस के ज्ञान के लिये प्रथम वक्ष्यमाण अर्थों पर ध्यान देना चाहिये।

(१) (क) पितरोंके समय दक्षिणायन षड्मास हैं अर्थात् जब दिवस घटना आरम्भ होता है * सूर्य्य भगवान् उत्तर से दक्षिण-दिशा की ओर यात्रा करते हुए प्रतीत होते हैं। दिनकी प्रचण्डता, उष्णता और गरमी विल्कुल कम होती जाती है और स्वयम् सूर्य्य भी क्षीण मलिन निस्तेज परम वृद्ध पुरुष समान भासित होने लगते हैं उस समय का नाम दक्षिणायन है। ऐसा दक्षिणायन समय पितरों के लिये क्यों माना है?

(ख) पितरों का पक्ष कृष्णपक्ष है अर्थात् जब चन्द्र भगवान् की एक २ कला प्रतिदिन क्षीण होने लगती है और धीरे २ रात्रि में अन्धकार की वृद्धि और प्रकाश का क्षय होने लगता है इसे कृष्णपक्ष कहते हैं। पितरों के लिये यह पक्ष क्यों?

(ग) पितरों का काल रात्रि है अर्थात् जब प्राण और प्रकाशदाता सूर्य्य अस्त होने लगता है जिस के आश्रय से सब ही जीव आनन्द और जीवन पा रहे थे वही सूर्य्य अब नीचे को गिर रहा है मानो इस के अन्तकाल की सूचना करते हुए

* प्रायः कुछ दिन आषाढ़ से आरम्भ हो पौष तक दिन घटता रहता है।

ये पक्षिगण भी हताश और निराश हो अपने २ कार्य्य को त्याग शोक के लिये अपने २ निवास स्थान में आरहे हैं। जीवमात्र विश्राम के लिये तैयारी करने लगते हैं, चारों ओर से अन्धकाररूप महागज आ छाजाते हैं, रहती हुई भी नयन अब कुछ काम नहीं देती, बहुत से पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि जीव अन्धे हो जाते हैं, आकाश में कहीं २ नक्षत्र चमकते हुए दीखने लगते हैं एक दूसरे के बाद उदित और अस्त होते रहते हैं इत्यादि आश्चर्य्य-युक्त समय का नाम रात्रि है। क्यों ?

(घ) पितरों का समय दिन का अपराह्ण भाग है अर्थात् दुपहर के बाद। जब सूर्य्य का तेज कम होने लगता है आकाश के मध्य भाग से नीचे उतरते हुए सूर्य्य दीखने लगते हैं वह दिन का अर्द्धभाग पितरों का कहलाता है। क्यों ?

(ङ) पितरों की तिथि विशेष कर अमावास्या है अर्थात् जिस तिथि में प्रायः चन्द्रमा का भी दर्शन नहीं होता उसे अमावास्या कहते हैं। क्यों ?

(च) पितरों की वेला सायङ्काल है अर्थात् एक ओर तो प्रकाश धीरे २ क्षय होता जाता है दूसरी ओर धीरे २ अन्धकार आता जाता है उसे सायङ्काल कहते हैं इत्यादि घटनाएं पितरों के साथ क्यों लगी हुई हैं ? ये सब किस भाव को सूचित करती हैं। इत्यादि विषयों पर प्रथम पूर्णतया विचार करना चाहिये। इतने से ही पितृश्राद्ध के बहुत से प्रयोजन विदित होने लगते हैं और यह बतला देता है कि पितृयज्ञ जीवित पितरों के लिये है या मृतपितरों के लिये।

(२) सायङ्काल को पितृप्रसू क्यों कहते हैं ?

स्वधा शब्द ॥

(३) (क) केवल पितरों के सम्बन्ध में ही स्वधा शब्द के प्रयोग अधिकता से क्यों होते हैं ? इस यज्ञ में "स्वधा" का उच्चारण इतना क्यों होता है ? (ख) इस का क्या अर्थ है ? (ग) इस शब्द से पितर क्यों प्रसन्न होते हैं ? इत्यादि–

(४) (क) यम कौन है ? इस को वैवस्वत, सूर्य्यपुत्र, धर्म्मराज, पितृपति, काल, दण्डधरा इत्यादि क्यों कहते हैं ? (ख) पितरों के साथ ही इसका इतना सम्बन्ध क्यों है ? (ग) इसके दो श्वानों (कुत्तों) का क्या आशय है ? यमदूत कौन हैं ? यम की दक्षिण दिशा क्यों मानी गई है ? चित्रगुप्त का अभिप्राय क्या है ? इत्यादि—

(५) (क) पितर कौन है ? (ख) अग्निष्वात्त, अग्निदग्ध, बर्हिषद, सोम्य, सुकाली, अंगिरा, नवग्व, भृगु, अथर्वा आदि पितृगण कौन है ? पितृशब्द प्रायः बहुवचनान्त क्यों आते हैं ? (ग) पितरों का दक्षिण दिशा से क्या सम्बन्ध है ? पितर प्राचीनावीति क्यों ? पितृयाण से क्या आशय है ? (घ) पितरों का सोम अथवा चन्द्रमा के साथ क्या सम्बन्ध है ? चन्द्र में अमृतपान करते हुए भी पितृगण श्राद्ध की इच्छा क्यों करते हैं ? यहां देवों के अन्न पितर क्यों कहाते हैं ? इत्यादि (ङ) पितृयज्ञ में भोजन का इतना माहात्म्य क्यों ? देवयज्ञ से भी इसे श्रेष्ठ क्यों माना है ? इसमें ब्राह्मण--भोजन की इतनी सावधानता क्यों ? इत्यादि ।

(६) पिता, पितामह, प्रपितामह, माता, पितामही, प्रपितामही इस प्रकार तीन ही पुरुषों का श्राद्ध क्यों कहा गया ?

(७) अमावास्या मासिक श्राद्ध ही सब आचार्य्यों ने विशेष कर क्यों विहित रक्खा ?

(८) इस विषय में वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम क्या सूचित करता है । संन्यासियों का श्राद्ध निषेध क्यों ?

(९) पूर्वकाल में मरण समय, पिता पुत्र में क्या सम्वाद होता था और वह क्या सूचित करता है ?

(१०) वेदों में द्वादशाङ्ग श्राद्ध की कहीं चर्चा है वा नहीं ?

(११) पितृऋण और पुत्र शब्दार्थ क्या है ?

(१२) गया बौद्ध—सम्प्रदायियों का तीर्थ स्नान होने पर भी वहां श्राद्ध का इतना माहात्म्य क्यों ?

(१३) महाभारत की आख्यायिका क्या सूचित करती है ?

(१४) आजकल पितरों को जल देना ही पितृतर्पण क्यों कहाता ?

(१५) तिलों का इतना माहात्म्य क्यों ?

(१६) दशगात्र—पूरण—पिण्ड, वृषभ का दागना, केश-च्छेदन, मांस-पिण्ड आदिकों का वर्णन क्यों ?

(१७) ईश्वरीय नियम क्या ?

इन ही विषयों पर यदि दत्तचित्त हो कोई ध्यान देवे तो मैं कहता हूं कि पितृ-यज्ञ का पता अच्छे प्रकार लग जायगा। विवेकशील पुरुषों से मेरा निवेदन है कि इन पर ध्यान देवें। इस सम्बन्ध में वेदों की जितनी ऋचाएं हैं उन का अर्थ सहित बारम्बार मनन करें। पुनः २ मनन से ही वेदार्थ प्रतीत होते हैं और इनके अर्थज्ञान से बुद्धि की शुद्धता और अनाकुलता होती है। जो कुछ हम धर्म्म के नाम पर करें उसे प्रथम सोचें विचारें ऐसा न हो कि वेदविरुद्ध कर्म्म करके उलटा दुःख भागी बन जांय और ईश्वर की आज्ञा से दूर जा अपने आत्मा को नीचे गिरादें। विद्वानों का एक यह भी परमोचित कर्त्तव्य है कि देश, ग्राम और कुल के प्रचलित व्यवहार, रीति, रस्मों के मूल कारण, तत्त्व, और अभिप्राय को अन्वेषण करते रहें। यदि वे व्यवहार हानिकारक हों तो उनको उठाने के लिये पूरा यत्न करें इसमें समाज की चिन्ता न करें क्योंकि इसमें अनभिज्ञ पुरुष अधिक होते हैं। सत्यता को प्रकाशित करने के लिये सदा उद्यत रहें। जिन से विद्या, व्यवसाय, धर्म्म आदि का लोप होता हो ऐसे कुकर्म्म अथवा प्रचलित रीतियों को बन्द करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। इस कारण सज्जन विद्वानों से मेरा विनय है कि इस पितृयज्ञ निर्णय को प्रथम ध्यान से चिन्तन कर वैदिक पितृयज्ञ को करें और करावें।

"पितर और अध्यात्म—गति सूचक दक्षिणायन आदि समय"

प्रथम दक्षिणायन आदि समय पितृ समय है इसमें प्रमाण सुनिये। यथाः—

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देवा ऋतवः। शरद्धेमन्तःशिशिरस्ते पितरः। य एवाऽऽपूर्य्यतेऽर्धमासः स देवाः। योऽपक्षीयते स पितरः। अहरेव देवाः। रात्रिः पितरः। पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवाः। अपराह्णः पितरः। स यत्रोदगाऽऽवर्तते देवेषु तर्हि भवति। देवांस्तर्हि अभिगोपायति। अथ यत्र दक्षिणाऽऽवर्तते। पितृषु तर्हि भवति। पितॄंस्तर्ह्यभिगोपायति। ३। शतपथ काण्ड २। ब्राह्मण ३।

अर्थ—वसंत, ग्रीष्म और वर्षा ये तीनों देवऋतु हैं। शरद्, हेमन्त और शिशिर ये तीनों पितृऋतु हैं। जो अर्धमास चन्द्र से आपूर्य्यमाण होता है अर्थात् जिस में चन्द्रमा बढ़ता हुआ दीखताहै अर्थात् जो शुक्लपक्ष है वह देवपक्ष है जो क्षीण होता है अर्थात् जिस में च[illegible]ीण होता भासित होता है ऐसा जो कृष्णपक्ष है वह पितृपक्ष है। दिन ही [illegible] ह रात्रि ही पितर है पुनः दिन का जो पूर्व भाग है वह देव और अपराह्ण [illegible] पितर है। वह सूर्य्य जब उत्तर को लौटता है तब देवों के निमित्त होता है त[illegible] [illegible]ों को ही सब तरह से पालता है और जब दक्षिण को लौटता है तब पितरों के निमित्त होता है तब पितरों को ही सब तरह से पालता है। इति (१) पुनः।

किसी समय प्रवाहण जैवलि के निकट आरुणेय श्वेतकेतु कुमार पहुंचे। जैवलिने उनसे प्रश्न पूछते हुए यह एक प्रश्न पूछा है:—

"वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना इति"।

हे कुमार! क्या आप देवयान और पितृयाण इन दोनों मार्गों की व्यावर्त्तना (जहां से दोनों पृथक् २ हो जाते हैं) जानते हो। श्वेतकेतु इस को नहीं जानते थे तब प्रवाहण स्वयं श्वेतकेतु के पिता से कहने लगे।

(१) यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि दक्षिणायन, कृष्णपक्ष आदि समय जो पितरों के साथ और उत्तरायण, शुक्लपक्षादि समय जो देवों के साथ लगाया हुआ है। इसका वर्णन वेद चतुष्टय में विशेष रूप से नहीं है। ब्राह्मणादिक ग्रन्थों में ऋषियों ने प्रतिपादन किया है।

ये चे येऽरण्ये श्रद्धा तप उपासते। ते अर्चिष माभिसंभवन्ति। अर्चिषोऽहः। अह्न आपूर्णमाणपक्षम्। आपूर्यमाणपक्षाद् यान्-षडुदङ्केति मासांस्तान् मासेभ्यः सम्वत्सरं। सम्वत्सरादादित्यम्। आदित्याच्चन्द्रमसम्। चन्द्रमसो विद्युतम्। तत्पुरुषोऽमानवः। स एनान् ब्रह्म गमयाति। एष देवयानः पन्थाः ॥२॥ अथ ये इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति। धूमाद् रात्रिम्। रात्रेरपरपक्षम्। अपरपक्षाद् यान् षड् दक्षिणैति मासान् तान्। नैते सम्वत्सरमभिप्राप्नवन्ति ॥ ३ ॥ मासेभ्यः पितृलोकम्। पितृलोकादाकाशम्। आकाशाच्चन्द्रमसम्। एष सोमो राजा। तद्देवानामन्नम्। तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥

अर्थः–सो जो कोई ज्ञानी अरण्य में श्रद्धा और तप की उपासना करते हैं वे प्रथम अर्चि (अग्नि ज्वाला) में उत्पन्न होते हैं। अर्चि से दिन में। दिन से आपूर्य्य माण पक्ष अर्थात् शुक्ल पक्ष में। आपूर्य्यमाण पक्ष से उन छः मासों में जिन में सूर्य्य उत्तर होता है*। मासों से वर्ष में। वर्ष से आदित्य में। आदित्य से चन्द्रमा में। चन्द्रमा से विद्युत् में। वहां अमानव पुरुष इस को ब्रह्म की ओर ले जाते हैं। इसी का नाम देवयान पथ है। अब आगे पितृयाण कहते हैं सो जो ये ग्राम में ही इष्टापूर्त और दान की उपासना करतेहैं वे प्रथम धूम में उत्पन्न होते हैं। धूम से रात्रि में। रात्रि से अपर

---

* सर्वत्र स्मरण रखना चाहिये कि न तो सूर्य्य दक्षिण उत्तर होता और न अस्त उदित होता है। पृथिवी के गोल और भ्रमण के कारण ये सब घटनाएं होती रहती हैं इसी प्रकार चन्द्रमा न तो बढ़ता और न घटता। पृथिवी की रुकावट के कारण वैसी लीला दीखती है। परन्तु पृथिवीस्थ मनुष्यों को पृथिवीस्थ घटनानुसार ही शिक्षा दी गई है।

पक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष में । अपरपक्ष से उन छः मासोंमें जिन में सूर्य्य दक्षिण होता है। ये सम्वत्सर की प्राप्ति नहीं करते । उन मासों में पितृलोक में । पितृलोक से आकाश में आकाश से चन्द्रमा में । सो यह यहां सोमराजा रहता है वह देवों का अन्न है उस को देव खाजाते हैं। यही पितृयाण पथ है । इन दोनों पथों के भाव को मैंने छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में विशेषरूप से निरूपण किया है वहां ही देखिये । यह मरण के अनन्तर जिस २ दशा में जीव प्राप्त होता है उस का वर्णन है । यहां केवल यह सूचित करना है कि रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन आदि काल पितृगण से और दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण आदि देवगण से सम्बन्ध रखते हैं । *

पुनः मनुस्मृति में कहा गया है । यथाः—

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् । श्राद्धप्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः ॥ ३ । २७६ ॥ यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते । यथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते । ३ । २७८ ॥ न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः । ३ । २८२ ॥

कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को त्याग दशमी आदि तिथिएं श्राद्ध के लिये जितनी प्रशस्त हैं उतनी अन्यान्य तिथिएं नहीं । २७६ । जैसे श्राद्ध में पूर्वपक्ष अर्थात् शुक्लपक्ष की अपेक्षा कृष्णपक्ष+ विशेष है वैसे ही पूर्वाह्ण से अपराह्ण प्रशस्त है। आहिताग्नि

---

* आजकल चन्द्रमास का हिसाब कृष्णपक्ष से करते हैं । परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि प्राचीन काल के अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि चन्द्रमास की गणना शुक्लपक्ष से करनी चाहिये । ऊपर के प्रमाणों से भी यही प्रतीत होता है क्योंकि आपूर्य्यमाण पक्षकी अपेक्षा अपक्षीयमाण पक्ष को अपरपक्ष कहा है। मन्वादिकों की भी यही सम्मति है ।

+ यहां पर भी कुल्लूक लिखते हैं कि **"चैत्रसिताद्या मासा इति ज्योतिःशास्त्र विधानात् शुक्लपक्षोपक्रमत्वान्मासानाम् अपरः पक्षः**

अर्थात् अग्निहोत्री द्विजाति का श्राद्ध अमावास्या के विना नहीं होना चाहिये । इत्यादि मनुस्मृति भी कृष्णपक्षादि काल को पितृ-सम्बन्धी बतलाती है । पुनः—

अथ श्राद्धममावस्यां प्राप्य कार्यं द्विजोत्तमैः । पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं भक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं क्षीणे राजनि शस्यते । अपराह्णे द्विजातीनां प्रशस्तेनामिषेण तु । प्रतिपत्प्रभृति ह्येतास्तिथयः कृष्णपक्षके । चतुर्दशीं वर्जयित्वा प्रशस्ता ह्युत्तरोत्तराः ॥

ये वाक्य शब्दस्तोम-महानिधि कोष में श्राद्ध शब्द पर लिखे हुए हैं । द्विजोत्तम को उचित है कि अमावास्या तिथि पाके श्राद्ध करें यह पिण्डान्वाहार्य श्राद्ध भक्तिमुक्तिफल-प्रद है । चन्द्रमा के क्षय होने पर अपराह्ण समय में प्रशस्त आमिष से इस पिण्डान्वाहार्य श्राद्ध को द्विजाति करें । कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तिथि को त्याग प्रतिपद् आदि तिथिएं प्रशस्त हैं इन में भी उत्तरोत्तर तिथिएं प्रशस्त होती जाती हैं ।

इत्युक्त्वा तु तदा ब्रह्मा तेषां पन्थानमाकरोत् । दक्षिणायनसंज्ञन्तु पितॄणां तु पितामहः ॥ तूष्णीं ससर्ज भूतानि तमूचुः पितरस्ततः । वृत्तिं नो देहि भगवन् यथा विन्दामहे सुखम् ॥ ब्रह्मोवाच । अमावास्या दिनं वोऽस्तु तस्यां कुशतिलोदकैः । तर्पिता मानुषैस्तृप्तिं परां गच्छत नान्यथा ॥ इत्यादि वाराहे ।

शब्दकल्पद्रुम पितृयज्ञ शब्द का वर्णन करते हुए कहता है कि ब्रह्माजी ने यह कह उन पितरों का दक्षिणायन पन्था बनाया । उसे बना के पुनः सृष्टि करने लगे । तब

कृष्णपक्षः" चैत्र मास के शुक्लपक्ष से मास आरम्भ होते हैं इस विधान से अपर-पक्ष का अर्थ कृष्णपक्ष है ।

पितरों ने ब्रह्माजी से जीविका मांगी । उन्होंने पितरों की जीविका के लिये अमावास्या तिथि नियत की और कहा कि मनुष्यों से दिये हुए कुश तिल जलों को प्राप्त कर आप तृप्त होवें, इत्यादि ।

अब सब से प्रथम आप इन पूर्वोक्त वाक्यों में क्या विलक्षणता पाते हैं ? आप देखते हैं कि यदि देवों का समय उत्तरायण है तो पितरों का दक्षिणायन यदि देवों का शुक्लपक्ष तो पितरों का कृष्णपक्ष । यदि देवों का दिन तो पितरों की रात्रि । यदि देवों का पूर्वाह्ण तो पितरों का अपराह्ण । इसीप्रकार देवों का प्रातःकाल पितरों का सायंकाल । देवों की पूर्णमासी पितरों की अमावास्या । इत्यादि । पुनरपि आपने उपनिषद् के वाक्यों में देखा है कि देव यदि ज्वाला में जाते हैं तो पितर धूम में । देव यदि दिन में तो पितर रात्रि में इत्यादि । दक्षिणायन में और कृष्णपक्ष में भी उत्तरोत्तर मास और तिथिएं अति प्रशस्त कही गई हैं इसी कारण शरद्ऋतु से और अष्टमी तिथि से उत्तम काल माना गया है । विवेकि-पुरुषो ! ये सब क्या सूचित करते हैं । इन नियमों से प्राचीन ऋषियों ने कौनसा गूढ़ आशय रक्खा था । ये सब कुछ प्रयोजनवान् हैं अथवा निरर्थक । इसमें सन्देह नहीं कि इसका आशय सरल और स्वाभाविक था प्रात्याहिक जीवन के लिये बड़ा ही आनन्दप्रद था परन्तु अज्ञानियों ने इसके अर्थ को उलट पुलट कर दिया. एवमस्तु अब इसका आशय सुनिये:—

प्रथम आप यह देखें कि पितरों के लिये ऐसे समय रक्खे गये हैं जो गिरते और घटते हुए हैं जो अवनति की ओर जारहे हैं धीरे, २ अस्त होरहे हैं नैराश्य सूचक हैं । परन्तु देवों के लिये वे समय हैं जो बढ़ते हुए उन्नति की ओर जारहे हैं अर्थात पितरों के समयों से ठीक विपरीत देवों के समय हैं । यह क्या शिक्षा देता ? इससे प्रथम यह शिक्षा मिलती है कि **बढ़ते हुए को देव और गिरते हुए को पितर कहना चाहिये** । अब बढ़ना और घटना दो प्रकार से होता है एक शरीर से, दूसरा ज्ञानादिक से । इस से यह सिद्ध होगा कि देव और पितर दो २ प्रकार के हैं । जो शरीर से उन्नति कर रहे हैं अर्थात् यह नियम है कि जन्म से लेके यौवनावस्था तक शरीर के प्रत्येक भाग बढ़ते जाते हैं, तत्पश्चात् घटने लगते हैं अतः सब ही जीवगण

यौवनावस्था तक देव तत्पश्चात् पितर कहावेंगे । इसी प्रकार जो ज्ञान सत्यादि पालने में बढ़ते चले जाते हैं वे देव और जो आगे को बढ़ते नहीं किन्तु उसी अवस्था में रहते अथवा एक प्रकार से घटते जाते हैं वे पितर हैं । एक तो उन वाक्यों से यह भाव टपकता है और दूसरा जो अत्यन्त उपदेशयुक्त और परमज्ञानप्रद है वह यह है ।

यहां प्राकृतिक उपमाओं के द्वारा जीवात्मा की गति बतलाई जाती है । देखिये । दक्षिणायन समय, कृष्णपक्ष और दिन का अपराह्न ये प्रथम तीनों उपमाएं हैं। परमदयालु ऋषि उपदेश देते हैं कि हे पितरो ! अर्थात् हे वृद्धपुरुषो ! जैसे सब के प्राणदाता सब के आश्रयभूत ये महान् तेजस्वी सूर्य्य भगवान् भी ज्येष्ठ मास तक अपनी पूर्ण यौवनावस्था को भोग के अब शनैः २ घट रहे हैं । इन का वह वैशाख ज्येष्ठ का परमप्रचण्ड प्रताप क्षीण होरहा है अपनी युवावस्था में इन्होंने पृथिवीस्थ सैकड़ों नदियों और सरोवरों को सोख लिये, जंगलों को भस्म कर दिये उस समय क्या पशुपक्षी क्या मनुष्य त्राहि २ मचाने लगे परन्तु इस जगत्पति जगच्चक्षु का भी वह ऐश्वर्य्य वह प्रताप अब क्षीण होरहा है । देखो ! दक्षिण की ओर खींचे जारहे हैं तेज मन्द होरहा है इस आग्रहायण पौष में ये कैसे दुर्बल होरहे हैं, मानो मृत्यु के मुख में अब गिरने ही चाहते हैं । ऐ पितरो ! देखो, इसी सूर्य्य के समान आप की दशा प्राप्त हुई है । बाल्यावस्था से लेके यौवन तक आपने बहुत कुछ क्रीड़ा, नाना कर्म्म, नाना व्यवसाय, नाना संग्राम किये । अब दक्षिणायन सूर्य्य के समान आप लोगों की आयु घट रही है । शरीर के बल, तेज, प्रताप, सब ही क्षीण होते जाते हैं । इन्द्रियें शिथिल होगई, मुख की कान्ति अब वह नहीं रही । दर्शन, श्रवणादिक शक्ति भी जाती रही । हे पितरो ! जब महान् सूर्य्यदेव की ऐसी गति होती है तब मर्त्यवासीजनों की ऐसी दशा होनी कोई आश्चर्य्य नहीं । यह सूर्य्य ईश्वर के नियम सूचित कर रहा है कि महान् से महान् भी एक दिन गिरेगा, अस्त होगा । इस कारण पितृगणो ! अब सब तरह से सचेत होजाओ । अब कूच करने की देर नहीं है । इत्यादि भावना दक्षिणायन सूर्य्य की उपमा से सूचित की गई है ।

यही भावना कृष्णपक्ष की उपमा से भी सूचित कीगई है प्रथम पक्ष अर्थात् शुक्ल-

पक्ष में चन्द्रमा एक २ कला बढ़ते २ पूर्णिमा तिथि को षोडश कलाओं से पूर्ण हो-जाता है यही मानो चन्द्रमा की यौवनावस्था है इसमें यह सब को आह्लादित करता है अब प्रतिपद् तिथि से एक २ कला क्षीण होने लगता है अन्त में अमावास्या तिथि को यह ग्रहपति चन्द्र देव भी अस्त होजाते हैं हे पितृगणो! अर्थात् हे वृद्धजनो! इसी प्रकार अब आप लोगों की भी यही दशा संप्राप्त है। देखो, अपने शरीर की ओर । इस शरीर से एक २ कला दिन २ घटरही है यौवनावस्था में चन्द्रमा के समान सबों को सुख पहुंचाया अब इन्द्रियें शिथिल होरही हैं और अमावास्या के चन्द्र के समान एक दिन अवश्य ही अस्त होना है । जब ऐसे देव भी अस्त होते हैं मृत्यु इन्हें भी नहीं छोड़ता तो मनुष्य को कब छोड़ सकता है । हे वृद्धतर पितरो ! अब आप ब्रह्मध्यान में चित्त लगावें । यही शिक्षा इस उपमा से दी जाती है इसी प्रकार दिन के अपराह्ण से समझिये ।

अब रात्रि और अमावास्या से भी आत्मगतिका उपदेश देते हैं। रात्रि आती है। चारों तरफ अन्धकार छाजाता है परन्तु आकाशमें नक्षत्रगण चमकने लगते हैं जिससे कुछ प्रकाश भी होता रहता है। इस उपमा से पितरों को सूचित किया जाता है कि हे वृद्धपितरो ! यद्यपि दिनके समान अब आपका वह प्रताप नहीं रहा अब आप अपने २ शरीरसे दिनके समान सब जीवों के उपकार करने में असमर्थ हैं तथापि रात्रिके समान जीवनकी प्रत्याशा है इस आकाशरूप हृदय में नक्षत्र समान जीवन चमक रहा है यह कुछ प्रकाश लोगों पर डाल रहा है वह चमकती हुई बुद्धि-रूपा तारा अभीतक विद्यमान है इससे अब भी आप बहुत कुछ साध सकते हैं । नैराश्य अभी तक नहीं आया, चन्द्र भगवान् जैसे नक्षत्रों के साथ मिलके रात्रि की शोभा बढ़ा रहे और प्राणियों को सुख पहुंचा रहे हैं ऐसे ही इन्द्रिय-रूप नक्षत्रों सहित आत्मारूप चन्द्रमा तनुरूप रात्रि में विकसित हो रहे हैं यथाशक्ति प्राणियों को अब भी सुख पहुंचा सकते हैं और पहुंचा भी रहे हैं इस में सन्देह नहीं परन्तु यह सब होते हुए भी दिन के समान वह यौवन नहीं, जरारूपा रात्रि आगई, शरीर का तेज न्यून हो ही गया । वह उष्णता अब चली ही गई

शीतलता आ घेरी। वृद्धतर पितरगणो! देखो अब चेतो। ऐ मनुष्यो! सब की यही गति है इत्यादि भाव इस रात्रि से सूचित किया जाता है।

अब अमावास्या की ओर आइये! सायंकाल से प्रातःकाल तक अन्धकार ही अन्धकार छाया हुआ रहता है। आज चन्द्रमा भी नहीं। वह भी अस्त हो गया। वृद्धतम पितरो! यही दशा अब आप लोगों की आनेवाली है। वह आत्मरूप चन्द्र भी अस्त हो ही जायगा अर्थात् इस शरीर को अवश्य त्याग देवेगा आप अब केवल ब्रह्म में ही लीन होवें वही कल्याण करेगा।

हे आर्य्य सन्तानो! अब आप तनिक भी ध्यान देवें तो ज्ञात हो सकता है कि यह औपमिक (उपमाओं के द्वारा) उपदेश जीवित पितरों में अथवा मृत पितरों में घटेगा। मृतकों को यह क्या लाभ पहुंचावेगा। वे मर चुके। अब पुनः वे उत्तरायण—सूर्य्य शुक्लपक्षस्थचन्द्र और पूर्वाह्ण के समान नवीन जीवन कहीं पारहे हैं। पुनः अपनी यौवनावस्था की ओर जा रहे हैं उन्हें इन उपदेशों से क्या लाभ पहुंचेगा। ये सारे उपमाप्रदर्शित उपदेश जीवित पितरों के लिये ही हैं। ये ही इन से लाभ उठाने के योग्य हैं इन जीवित पितरों के वास्ते ही ये उपदेश हैं, कैसी प्राकृतिक उपमाएं दी गई हैं कैसा शान्त रस दिखलाया गया है, कैसा जीवन का उद्देश सुन्दर और मनोहररूप से शिक्षित हुआ है। हे विवेकि-पुरुषो! जीवित पितर ही इन उपमाओं से अपने जीवन सुधार सकते हैं। वे ही विचार सकते हैं कि सूर्य्य के समान मैं निस्तेज बलहीन हो रहा हूं, चन्द्र के तुल्य शारीरिक कला क्षीण होती जाती है रात्रि के सदृश इन्द्रियें अन्धकाराऽऽवृत हो रही हैं अमावास्या—चन्द्रवत् आत्मा अस्त हो जायगा। अब पृथिवी पर जहां तक हो लोकोपकार करलूं यहां अब रहना नहीं इत्यादि आध्यात्मिक भाव जीवित पितर ही ग्रहण कर सकते हैं। मृत पितर नहीं। इस कारण यह पितृयज्ञ जीवित सम्बन्धी है। मृत सम्बन्धी कदापि नहीं। यह बात इसी दक्षिणायन आदि समय से सिद्ध होती है। मैं कहता हूं कि जो इस गिरतेहुए समय में भी पितरों के लिये समयादि नियत हैं उन्हीं पर यदि कोई विचार करे तो निःसन्देह पितृयज्ञ सम्बन्धी विवाद मिटजाय।

पितृ-सम्बन्ध में दक्षिणायन, अपरपक्ष, रात्रि, अपराह्न अमावास्या आदिक तिथिएं जो प्रशस्त कहे गये हैं इन सबों के अन्यान्य भाव भी हैं सो सुनिए—

वह यह है। पितृ शब्द का मुख्य अर्थ पालक अर्थात् रक्षक है आगे मैं उदाहरण सहित सिद्ध करूंगा, पृथिवी पर के जितने प्रकार के रक्षक हैं उनका एक नाम पितर है और उनकी एक मुख्य पदवी स्वधा है स्वान् दधातीति स्वधाः **"स्वे स्वा वा धीयन्ते ध्रियन्ते रक्ष्यन्ते यया सा स्वधा"** अपने ग्राम देश कुल परिवार बन्धु बान्धव प्रभृतियों को जो धारण पोषण करे करवावे उसे स्वधा कहते हैं अथवा जिस शक्ति वा क्रिया के द्वारा अपने ग्राम देशादिकों का धारण पोषण हो वह स्वधा। इसको आगे विस्तार से निरूपण करेंगे। यहां पर आप यह समझें कि जैसे आज वैसे सर्वदा से दो प्रकार के मनुष्य चले आते हैं आर्य और दस्यु। इसी को क्रम से देव और असुर अथवा सभ्य और असभ्य आस्तिक और नास्तिक सज्जन और दुर्जन उपकारी और अपकारी रक्षक और भक्षक इत्यादि शब्दों से व्यवहार करते हैं, ये दस्यु बड़े उपद्रवी होते हैं इन्हीं दुष्ट पुरुषों से प्रजाओं को बचाने के लिये सर्वदा बड़े २ प्रबन्धों की आवश्यकता होती रहती है स्वभावानुसार वेदों में इनका बहुत वर्णन आया है ऋषियों के समय में भी ये उपद्रवी दस्यु बहुत थे ऋषियों ने वैदिकशिक्षा देख पृथिवी पर शान्तिके लिये सब प्रकारके प्रबन्ध रचे। देशरक्षक प्रथम उत्पन्न किये अर्थात् प्रत्येक प्रकार की विद्या सिखाकर आवश्यकता के अनुसार सब प्रकार के मनुष्य बनाए गए। कोई अध्यापक, कोई न्यायकर्त्ता, कोई प्राड्विवाक, कोई सेनापति, कोई योद्धा, कोई अश्वारोही, कोई पदग, कोई ग्रामाध्यक्ष, कोई नगराध्यक्ष, कोई देशाधिपति, कोई राजा, कोई सम्राट् पृथिवीश्वर इत्यादि। इस तरह से जितने प्रकार के रक्षक हुए उनको प्रथम पितृ-पदवी दी गई और उनके कर्म्म वा क्रिया का नाम स्वधा रक्खा गया। कहीं २ स्वयं पितर भी 'स्वधा' पुकारे गए हैं। इन पितरों के साथ जो ध्वजा पताकाएं रहती थीं उन पर भी स्वधा शब्द लिखा जाता था इस प्रकार पितरों का

चिह्नही स्वधा हो गया इन पितरों के विशेष भेद अग्निष्वात्त (जिसको आग्निदग्ध भी कहते हैं) बर्हिषद,धर्म्मसद्,सोम्य,भृगु,अथर्वा,अङ्गिरा,नवग्व, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गोतम, वामदेव आदिक हैं। ये सब शब्द आचार्य्य, उपाध्यायादिवत् पदवी वाचक हैं। अब मैं एक २ शीर्षक लेके पितर और रात्रि आदिकों के सम्बन्ध वर्णन करूंगा। इस पर आप ध्यान देवें और विचारें कि यह सम्बन्ध जीवितों में अथवा मृतकों में घट सकता है।

"पितृगण और रात्रि" ॥

रात्रि में रक्षा की बड़ी आवश्यकता होती है। आज कल भी रात्रि में रक्षा के लिये बड़ा प्रबन्ध किया जाता है। कोट्टपाल, चौकीदारगण संध्या होते ही हाथ में गडांस अथवा तलवार बन्दूक आदि ले ग्राम और नगर की सड़कों पर बड़ी सावधानता से चौकी देने लगते हैं। चिल्ला २ के लोगों को जगाते रहते हैं, रात भर कोलाहल ही मचाते रहते हैं। इस के सिवाय आज कल रात्रिरक्षा के लिये रोशनी का बड़ा प्रबन्ध किया गया है। बड़े २ शहरों में गैस और बिजली की रोशनी रात्रि भर सड़कों और गलियों में होती है जिस से रात्रि में भी दिन के सदृश प्रकाश चारों तरफ होने लगता है। बड़े २ नगरों में केवल एक एक रात्रि में रोशनी के लिये १००) से भी अधिक व्यय है। इतने प्रबन्ध होने पर भी रात्रि में बड़ी २ डकैती चोरी बदमाशी हत्या होती ही रहती हैं। बड़ी २ दुकानें लुट जाती हैं। अब आप अनुमान कर सकते हैं कि पूर्व काल रात्रिरक्षा के लिये कितनी आवश्यकता होती होगी। वेदों में राक्षसों के रात्रि में आक्रमणका कितना वर्णन है। वेदोंमें मनुष्यस्वभाव का परिचय है राक्षस इसी हेतु इसका नाम है जिससे हम अपनी रक्षा करें। रात्रि में ये आक्रमण करते हैं अतः रात्रिचर-रात्रिंचर कहाते हैं इत्यादि। इससे सिद्ध है कि रात्रि में रक्षा के लिये पितरों (रक्षकों) की सबसे बढ़ कर आवश्यकता थी। और यह सर्व सिद्धान्त है कि एक ही बार सब प्रकारकी तरक्की नहीं हो गई। धीरे २ सब तरक्कियां हुई हैं और यह भी सब का मत है कि इस पृथिवी पर प्रथमे पश्वादि उत्पन्न हुए तब मनुष्यों की सृष्टि हुई है। अब आप विचारें कि जिन ऋषियों के हृदय में वेदज्ञान दिया गया उन को रक्षा के लिये कितनी चिन्ता लगी होगी परन्तु यह तो चिन्ता होने पर धीरे २ ही सर्व कार्य्य सिद्ध हुआ होगा इस में सन्देह नहीं।

एक ओर तो वे दुष्टपुरुष रात्रि मा के गृहस्थों को सताते हैं। दूसरी ओर वे हिंसक सिंह व्याघ्र, वृक, शृगाल आदि पशु आके छोटे २ बच्चों और पशुओं को ले भागते हैं। गृह अभी वैसा दृढ है नहीं। अभी दुर्ग नहीं बने हैं। ईंट पत्थरों के भवन अभी सर्वत्र तैयार नहीं हुए हैं। आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, शक्ति, तोमर, धनुष, वकुर, तपुषि आदि अस्त्र शस्त्र अधिक रचित नहीं हुए हैं। तैलादिकों के यंत्र अभी सर्वत्र नहीं पहुंचे हैं इस हेतु रात्रि में प्रदीप का भी वैसा प्रबन्ध होना कठिन है। इन्धनों को जलाके कुछ कार्य्य लेने पर भी पूरी रक्षा नहीं होती है। इत्यादि अवस्था सृष्टि की आदि में थी। ऋषि लोग वेद के द्वारा सब प्रबन्ध रच ही रहे थे। तथापि उस समय रात्रिरक्षा की सब से बढ़कर आवश्यकता थी अतः अब आप विचार सकते हैं कि पितरों के लिये रात्रि का समय क्यों प्रशस्त माना गया है। रात्रि में रक्षा की बड़ी आवश्यकता होने के कारण पितरों का समय रात्रि रक्खा गया है हे विवेकि-पुरुषो! यह रक्षा क्या जीवित पुरुष कर सकते हैं या मृतपुरुष। निःसन्देह यह जीवितों का कर्तव्य है इससे भी यही सिद्ध है कि पितृयज्ञ जीवित-सम्बन्धी है मृत-सम्बन्धी नहीं।

पितृगण और अमावास्या तिथि ॥

यह अमावास्या की श्राद्ध-विधि भी जीवित पितरों की ही सेवादिक व्रत बतलाती है क्योंकि इस तिथि में चन्द्रमा का भी उदय प्रायः नहीं होता है। रात्रि में अंधकार अधिक छा जाता है। चोर, डाकू, लुच्चे, लम्पट, बदमाश, रात्रिचर आदि दुष्ट पुरुषों को चोरी डकैती वगैरह करने का बहुत मौका मिल जाता है। चोर तो अमावास्या को खास अपनी तिथि मानते हैं इस कारण इस रात्रि में रक्षा की और भी अधिक आवश्यकता है। हम कह चुके हैं कि पितर शब्दार्थ रक्षक है। रक्षकगणों का नाम ही पितर है। इस हेतु रक्षक पितर आज घर २ बुलाये जाते हैं इन का आज खूब सत्कार होता है। गृहस्थ विचारे इन के भरोसे आनन्द पूर्वक शयन करते हैं और ये पितर रात्रि भर जागरण करके उन गृह-स्थों के सब पदार्थों की रक्षा करते हैं। इस तिथि को अधिक पितरों की आवश्यकता होती है इस हेतु कहा गया है अमावास्या को पितृयज्ञ अवश्य करें। घर २ इन को

सत्कार से रक्खें । इनको अच्छे पदार्थ भोजन करावें ताकि ये बलिष्ठ होके अच्छे प्रकार रक्षा कर सकें * अब आप विचारें कि यह रक्षा क्या मृत पुरुष कर सकते हैं ? नहीं। इस से भी जीवित श्राद्ध सिद्ध होता है ।

पितृगण और पितृप्रसू (सन्ध्या)

शब्द कल्पद्रुम कोश में लिखा है कि—

"पितृप्रसूः । स्त्री । पितृणां प्रसूर्मातेव पितृकृत्ये सन्ध्या-वर्तिन्यास्तिथे र्ग्राह्यत्वादस्याः प्रसूतुल्यपालकतया तथात्वम् । सन्ध्या"

सन्ध्याकाल का नाम पितृप्रसू है क्योंकि पितृकृत्य में सन्ध्याकाल तक रहने-वाली तिथि का ग्रहण होता है इस कारण मानो माता के समान यह सन्ध्या पितरों की रक्षा करती है । पुनः—

ततो निगृह्यैन्द्रियकं विकारं चतुराननः । जिघृक्षुरपि त-त्याज तां सन्ध्यां कामरूपिणीम् ॥ तच्छरीरात्तु घर्म्माम्भो यत् पपात द्विजोत्तमाः । अग्निष्वात्ता बर्हिषदो जाताः पितृगणास्त-तः ॥ भिन्नाञ्जननिभाः सर्वे फुल्लराजीवलोचनाः । नितान्त-संयताः पुण्याः संसारविमुखाः परे ॥ सहस्राणां चतुःषष्टि-रग्निष्वात्ताः प्रकीर्तिताः । षडशीतिसहस्राणि तथा बर्हिषदो द्विजाः ॥

---

* यहां यह भी स्मरण रखना चाहिये कि पूर्व समय में अपनी रक्षा सब कोई अपने आप ही कर लेते थे । जो युवक बलिष्ठ निर्भय वीर पुरुष होते थे वे ऐसे २ कार्य्य में नियुक्त किए जाते थे । ये भी रक्षक होने के कारण पितर कहाते थे । पितृशब्द पर इन सबों का उदाहरण देखिये ॥

पुनः इसी शब्दकल्पद्रुम में पितृयज्ञ शब्द पर कालिकापुराण के श्लोक उद्धृत हैं। भाव यह है कि तब चतुरानन ब्रह्माजी इन्द्रियों को रोक पकड़ने की इच्छा करते हुए भी उस कामरूपिणी सन्ध्या को छोड़ स्थिर हुए। उस सन्ध्या के शरीर से गरम जल पृथिवी पर गिरा। उस से हे द्विजोत्तमो! अग्निष्वात्त और बर्हिषद आदि पितृगण उत्पन्न हुए। वे अंजन के समान काले पुष्पित रक्तकमल के सदृश नयनवाले हैं और नितान्तसंयमी पवित्र और संसारसुख-विमुख हैं। अग्निष्वात्त पितरों की ६४ चौंसठ सहस्र और बर्हिषद पितरों की ८६ सहस्र संख्या है। इस से सिद्ध है कि कालिकापुराण के अनुसार पितरों की माता का नाम सन्ध्या है और वह स्त्री है जिस पर ब्रह्माजी मोहित हुए थे परन्तु विष्णुपुराण प्रथमअंश पंचमाध्याय में लिखा है कि—

सत्त्वमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम्। पितृवन्मन्यमानस्य पितरस्तस्य जज्ञिरे ॥ उत्ससर्ज पितॄन् सृष्ट्वा ततस्तामपि स प्रभुः। साचोत्सृष्टा भवत्सन्ध्या दिननक्तान्तरस्थितिः॥

तब ब्रह्माजी ने दूसरी सात्विकी तनु को धारण किया तब मनन करते हुए ब्रह्माजी की तनु (शरीर) से पितर उत्पन्न हुए। तब पितरों को सृजन करके उस तनु का भी त्याग किया वह तनु उत्सृष्टा होने पर सन्ध्या होगई जो दिन रात के बीच में रहती है।

विष्णुपुराण का आशय यह कि ब्रह्माजी ने जिस तनु से पितृगणों का सृजन किया वही तनु सन्ध्या बन गई इस कारण सन्ध्याकाल का नाम पितृप्रसू है।

वायु पुराण कहता है कि—

पितृवन्मन्यमानस्तु पुत्रान् प्राध्यायत प्रभुः।
स पितॄनुपपक्षाभ्यां रात्र्यह्नोरन्तरेऽसृजत् ॥

पुत्रोत्पत्ति के लिये मनन करते हुए ब्रह्माजी ने दोनों उपपक्षों से रात और दिन के अन्तर अर्थात् सन्ध्याकाल में पितरों का सृजन किया। इस से सिद्ध होता है जिस हेतु सन्ध्याकाल में पितरों की उत्पत्ति हुई है अतः उस का नाम पितृप्रसू है।

आप इसे देखते हैं कि सब ग्रन्थ इस 'पितृप्रसू' शब्द को भिन्न २ प्रकार से वर्णन करते हैं। कोई कहता है कि सन्ध्या एक देवी थी जिस के घर्म्मोदक (गरम जल) से पितर सृष्ट हुए। कोई कहता है कि ब्रह्मा ने जिस तनु को धारण कर पितरों को सृजन किया वह पीछे सन्ध्या होगई, कोई कहता है कि सन्ध्याकाल में पितरों को उत्पन्न किया इस हेतु इसे पितृप्रसू कहते हैं। किसी का मत है कि पितृश्राद्ध की तिथि सन्ध्याव्यापिनी लीजाती है इस हेतु पितृप्रसू कहते हैं। परन्तु विचारशील-पुरुषो ! इन लेखकों ने पितृप्रसू शब्द के यथार्थ अभिप्राय को नहीं समझा है। यदि समझे हुए रहते तो इस प्रकार परस्पर विरोध नहीं रहता। अमरकोष कहता है कि "प्रभातं च दिनान्ते तु सायं सन्ध्या पितृप्रसूः" दिनान्त सायम् सन्ध्या और पितृप्रसू ये चार नाम सन्ध्याकाल के हैं इन प्रमाणों से सिद्ध है कि पितृप्रसू यह नाम सायंकाल का है इस में सन्देह नहीं। " पितॄन् प्रसूते उत्पादयति या सा पितृप्रसूः " पितरों को जो उत्पन्न करे उसे पितृप्रसू कहते हैं यही इसका शब्दार्थ भी है। अब प्रश्न होता है कि यथार्थ में सायंकाल को पितृप्रसू क्यों कहते हैं? इसका समाधान भी सरल है। संध्या का एक नाम दोषा और प्रदोषा भी है (यहां सन्ध्या शब्द उपलक्षक है अतः सन्ध्या शब्द से सम्पूर्ण रात्रि का ग्रहण है) भाव यह कि सन्ध्या होते ही अनेक दोष आने लगते हैं चोर डाकू विचारने लगते हैं कि अब हमारे विनोद का समय आया। लम्पट जीव प्रसन्न होने लगते हैं कि अब हमारे भोगविलास का मुहूर्त आरहा है। इस प्रकार चोर लम्पट आदि दुष्ट जीव तो प्रसन्न होते हैं परन्तु सज्जन गृहस्थ घबड़ाते हैं इस रात्रि को कौनसी विपत्ति आवेगी कौन हमारे सन्तान पशु गृह धन धान्य की रक्षा करेंगे एक ओर तो दुष्ट मनुष्य दूसरी ओर व्याघ्र वृक आदि हिंसक पशु उपद्रव करनेवाले हैं इस प्रकार गृहस्थाश्रम में अनेक आपत्ति आने की संभावना के कारण सन्ध्या का नाम दोषा होता है। यजुर्वेद के प्रथम ही मंत्र में प्रार्थना आती है कि "मा स्तेन ईशत" "यजमानस्य पशून् पाहि" स्तेन अर्थात् चोर डाकू तुम्हारे चुराने में समर्थ न होवें। हे भगवन् ! यजमान के पशुओं की रक्षा करो। इत्यादि अनेक कारणों से रात्रि में रक्षा की आवश्यकता आ पड़ती है अब आप समझ सकते हैं कि सन्ध्याकाल को क्यों

पितृप्रसू कहते हैं । ज्योंही सन्ध्या हुई त्योंही सब रक्षकगण अपने २ नियुक्त स्थान पर पहुंच जाते हैं । चारों तरफ पितर ही पितर दीख पड़ने लगते हैं रक्षा के लिये सब पितृगण कटिबद्ध होजाते हैं इस हेतु इस सन्ध्या का नाम ही पितृप्रसू होगया है यह सन्ध्या, मानो, पितरों और रक्षकों को उत्पन्न कररही है यह शब्द ही बतलाता है कि जीवित पुरुषों का ही श्राद्ध होता है मृतकों का नहीं ।

पितृगण और दक्षिणायन ॥

इसी प्रकार जब आषाढ़ मास से सूर्य दक्षिण दिशा की ओर लौटता हुआ भासित होता है । तब भी रक्षा की बड़ी आवश्यकता होने लगती है । क्योंकि प्रथम तो वर्षा के आरम्भ के कारण गृहस्थ लोग अपने २ क्षेत्र कार्य में तत्पर हो जाते हैं इस हेतु इनके गृह प्रायः मनुष्यों से शून्य हो जाते हैं । यदि रहते भी हैं तो वे ही असमर्थ स्त्रीगण और बालकगण आदि । पुनः क्षेत्रजीवी पुरुषों को यथायोग्य क्षेत्रभाग मिल जाय परस्पर युद्ध न हो एक दूसरे के अधिकृत क्षेत्र न दबा ले । सब लोग यथासम्भव क्षेत्र करें ऐसा न हो कि आलसी वा दुष्ट पुरुष इस समय अपनी जीविका के लिये खेत न करें पीछे लूटमार मचा के प्रजाओं में उपद्रव मचावें । एवं यथासम्भव सर्वत्र जल के आने जाने का सुप्रबन्ध, खेतों का बांध, बीज बैल आदिकों की आयोजना और जहां अधिक पानी हो जाय वा नदियों की बाढ़ आजाय वहां से पानी के निकास के लिये उपाय सोचना आदि सहस्रशः कर्त्तव्य उपस्थित होते हैं ये सब कार्य इन्हीं पितरों को सौंपे जाते थे । अब पुनः शरदृऋतु आश्विन से आरम्भ होती है इसमें अनेक प्रकार के रोग फैलना आरम्भ हो जाते हैं इसी हेतु वेदों में "जीवेम शरदः शतम्" का पाठ बहुत आता है । ज्वर, हैजा आदि का बड़ा प्रकोप होता है । इस कारण इस ऋतु में और भी पितरों (रक्षकों) की आवश्यकता बढ़ जाती है इस हेतु विशेष रूप से इस ऋतु में पितृगणों का सत्कार कहा गया है और यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जो वृद्ध पितर वन में हैं उन की सेवा वर्षा और क्षेत्रकार्य के कारण उतनी नहीं हो सकती । इन चतुर्मासों में आवागमन भी बन्द सा हो जाता है जो जहां हैं वे प्रायः वहां ही बस रहते हैं अब शरदृऋतु आई । आश्विन में मेघ

झर गया आकाश निर्मल जल भी स्वच्छ और अमल हो गया। रास्ता पन्थ खुलगया अन्न भी अनेक प्रकार के हो गये और अनेक प्रकार के होने वाले हैं इत्यादि अनेक कारणवश अब पुनः पितृसेवा-सुश्रुषा का उचित समय प्राप्त हु ा। इस हेतु भी इस आश्विन मास में विशेषरूप से पितृश्राद्ध का वर्णन है। हे विवेकिपुरुषो ! इत्यादि भावों को विचार स्थिर कीजिये कि ये सब बातें जीवितों वा मृतकों में घट सकती हैं ?

शङ्कासमाधान—यदि कोई कहै कि पूर्वोक्त निर्णय समुचित नहीं क्योंकि तिथि वा मास वा अयन एक न एक सुविधा के लिये नियत करना ही पड़ता पुनः उस में भी ऐसी ही शङ्का हो सकेती थी कोई तिथि रक्खें सब में यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि ऐसा क्यों ? समाधान। यहां आप देखते हैं कि केवल सुविधा ही प्रयोजन नहीं। क्या कभी पितरों के लिये शुक्लपक्ष में वा उत्तरायण में कोई तिथि सुविधा की नहीं होती। यहां विशेषता सर्वत्र पाई जाती है यह विशेषता अवश्य किसी विशेष प्रयोजन के लिये है अन्यथा "जब २ सुविधा हो तब २ पितृयज्ञ करलो" ऐसा कहा जाता परन्तु सो नहीं कहा। और मन्द जन भी प्रयोजन विना कार्य आरम्भ नहीं करता फिर प्राचीन वेदतत्त्ववित् ऋषियों ने दक्षिणायन आदि समय के गुरुतर आरम्भ से क्या केवल सुविधा ही प्रयोजन देखा। ऐसा नहीं। गंभीराशय ऋषियों का अवश्य उन नियमों से गंभीर आशय था जैसा कि मैंने वर्णन किया। इति। यदि कोई कहे कि अमावास्या तिथिमासान्त होने के कारण उस मास के आदरार्थ यह नियम बांधा है और यह भी नहीं कि इसमें केवल पितृयज्ञही हो अन्यान्य नहीं। दर्शपौर्णमास यज्ञ में सर्व कर्म किये जाते हैं इसके अतिरिक्त प्रत्येक पितृकार्य में देवकार्य किये जाते हैं। समाधान। प्रथम तो यदि मासान्त का मुख्य विचार होता तो चन्द्रमास की अपेक्षा सौरमास बहुत प्रसिद्ध है और भारतवर्ष में अभी तक जितनी गणना सौरमास के अनुकूल की जाती है उतनी चन्द्रमास के अनुसार नहीं। तब प्रत्येक संक्रांति के दिवस में धिक विधि होती सो नहीं है। अतः अमावास्या कुछ विशेष भाव रखती है जैसा कि वर्णन किया है। और यह आधुनिक सिद्धांत भी है कि पितृकार्य में जो देवकार्य आता है वह पितृकार्य की सहायता के लिये ही होता है। और पूर्णिमा

और दर्श (अमावास्या) में जो क्रमसे देव और पितर की ही विशेषता होती है। जो गृहस्थ केवल साधारण हवन करते हैं उसमें किसी की विशेषता नहीं इत्यादि अनुसंधान करना। मैंने यहां संक्षेप से प्रश्नोत्तर की परिपाटी दिखा दी है। वेदों के द्वारा ही आप सब कुछ स्थिर करें यही मेरा वारम्बार उपदेश है ॥

इति दक्षिणायनादि समय निरूपण प्रकरणं समाप्तम् ॥

पितृगण और स्वधा शब्द ॥

वेदों से लेकर लौकिक ग्रन्थ तक पितरों के सम्बन्ध में स्वधा शब्द के बहुत प्रयोग देखते हैं। जैसे देवपूजा सम्बन्धी "अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा। सोमाय पितृमते स्वाहा"। यजुः २। २८ ॥ "अग्नये स्वाहा। इन्द्राय स्वाहा। सोमाय स्वाहा" इत्यादि वाक्यों में स्वाहा शब्द वैसे ही पितृपूजा में "पित्रे स्वधा" "पितामहाय स्वधा" "प्रपितामहाय स्वधा" देखते हैं। इस कारण इस शब्द का यदि यथार्थ तात्पर्य्य प्रतीत हो जाय तो श्राद्ध का निर्णय कठिन नहीं होगा। वेदों में कहा गया है कि—

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः।
पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः।
प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। यजु० १९।३६॥
ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥यजु०१९।४५॥
"अस्मिन् यज्ञे स्वधया मादयन्त" ॥ १९। ५८॥
ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ॥ १९। ६०॥ स्वधां पितृभ्यः। १९। ८७॥

इत्यादि वेदों में पितरों के साथ "स्वधा" शब्द के अनेक प्रयोग देखने में आते हैं। आगे भी अनेक प्रयोग अर्थसहित और इनके अर्थ लिखे जायंगे।

स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्य इति प्रथमं पिण्डं निदध्यात्।

स्वधा पितृभ्योऽन्तरिक्षसद्भ्य इति द्वितीयम्० ।

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्य इति तृतीयम्० ।

गोभिलीय गृह्यसूत्र चतुर्थ प्रपाठक तृतीय कण्डिका सू०१०॥

यहां भी पितृ शब्द के साथ स्वधा शब्द के उच्चारण की विधि पाते हैं । इसी प्रकार के नियम श्रौत सूत्रों में भी पाये जाते हैं ।

मनु जी कहते हैं:—

स्वधास्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम् ।

स्वधाकारः पराह्याशीः सर्वेषु पितृकर्म्मसु । ३ । २५ ॥

भोजन के अनन्तर गमन के समय ब्राह्मण गण श्राद्धकर्त्ता से "स्वधास्तु" ऐसा कहें । क्योंकि सर्व-पितृ कर्म्मों में स्वधा शब्द का उच्चारण ही उत्तम आशीर्वाद है ।

देवी भागवत में लिखा है:—

स्वधां संपूज्य यत्नेन ततः श्राद्धं समाचरेत् ।

स्वधां नाभ्यर्च्य यो विप्रः श्राद्धं कुर्यादहंमतिः ।

न भवेत् फलभाक् सत्यं श्राद्धस्य तर्पणस्य च ।

यत्नपूर्वक स्वधा को पूज तब श्राद्ध करे । जो निर्बुद्धि विप्र स्वधा को न पूज के श्राद्ध करता है । वह श्राद्ध तर्पण का फल नहीं पाता ।

महाकवि कालिदास रघुवंश में वर्णन करते हैं:—

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेद-दर्शिनः ।

न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधा-संग्रहतत्पराः ॥

भाव यह है कि दिलीप महाराज वसिष्ठजी से कहते हैं कि हे गुरो ! निश्चय मेरे बाद मेरे वंशज पितृगण जो स्वधा के संग्रह करने में तत्पर हैं वे श्राद्ध में पूर्ण भाग नहीं पावेंगे ।

अमरकोश कहता है:—

स्वाहा देवहविर्दाने श्रौषट् वौषट् वषट् स्वधा ॥ ३ । ४ । ८ ॥

स्वाहा, श्रौषट्, वौषट्, वषट् और स्वधा ये पांचों शब्द देवों के हविर्दान में प्रयुक्त होते है ।

मुग्धबोध व्याकरण में कहा है कि:—"स्वाहाग्नये स्वधा पित्रे" अर्थात् अग्नि आदि देवों के साथ स्वाहा और पितरों के साथ स्वधा शब्द का प्रयोग होता है ।

वैयाकरण पाणिनि भी "नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधाऽलं वषट् योगाच्च" इस सूत्र से स्वधा के योग में चतुर्थी विधान करते हैं ।

इस प्रकार संस्कृत ग्रन्थों में स्वधा शब्द के प्रयोग बहुत हैं । वेदों में तो यह स्वधा शब्द अन्यान्य देवों के साथ भी प्रयुक्त हुआ है परन्तु वेदातिरिक्त ग्रन्थों में प्रायः पितृ-सम्बन्ध में ही इसके प्रयोग देखते हैं अतः इस का निश्चय भी करना आवश्यक है । प्रथम इस शब्द पर पुराणों की क्या सम्मति है सो सुनिये ।

स्वधा और देवी भागवत ॥

नारद श्रृणु वक्ष्यामि स्वधोपाख्यानमुत्तमम् । पितृणाञ्च तृप्तिकरं श्राद्धान्नफलवर्धकम् ॥ १ ॥ सृष्टेरादौ पितृगणान् ससर्ज जगतां विधिः । चतुरश्च मूर्त्तिमतस्त्रींश्च तेजःस्वरूपिणः ॥२॥ दृष्ट्वा सप्तपितृगणान् सुखरूपान् मनोहरान् । आहारं ससृजे तेषां श्राद्धं तर्पणपूर्वकम् ॥ ३ ॥.... ब्रह्मा च मानसीं कन्यां ससृजे च मनोहराम् । रूपयौवनसम्पन्नां शतचन्द्रनिभाननां ॥ इत्यादि । स्वधाभिधाञ्च सुदतीं लक्ष्मीं लक्षणसंयुताम् ॥१२॥ पितृभ्यश्च ददौ ब्रह्मा तुष्टेभ्यस्तुष्टिरूपिणीम् । ब्राह्मणाश्चोपदेशं तु चकार गोपनीयकम् । स्वधान्तं मन्त्रमुच्चार्य्य पितृभ्यो देयमित्यपि । स्वाहा शस्ता देवदाने पितृदाने स्वधा स्मृता । इत्यादि देवी भागवत नवमस्कन्ध ४४ अ० १—१५ ॥

अर्थ—नारायण नारद से कहते हैं कि स्वधा देवी का उपाख्यान मैं कहूंगा आप सुनें। वह पितरों का तृप्तिकर है और श्राद्ध के अन्नफल का वर्धक है। आगे उपाख्यान आरम्भ करते हैं। सृष्टि की आदि में ब्रह्मा ने चार मूर्तिमान् और तीन तेजःस्वरूपी इस प्रकार सात पितृगण * उत्पन्न किये उन सातों पितृगणों को सुखरूप और मनोहर देख उन के आहार के हेतु श्राद्ध और तर्पण सृष्ट किये। तदनन्तर ब्रह्माजी ने परमसुन्दरी, रूपयौवन-सम्पन्ना, शतचन्द्र-निभानना एक मानसी कन्या रची। उस का नाम "स्वधा" रक्खा जो सर्व लक्षणयुक्ता थी। उस कन्या को उत्पन्न कर प्रसन्नमूर्त्ति पितरों के साथ विवाह दिया और ब्राह्मणों को गोपनीय उपदेश दिया कि स्वधान्त मन्त्र अर्थात् मन्त्र के अन्त में स्वधा शब्द का उच्चारण करके पितरों को श्राद्धान्नादि देना उचित है। देवदान में स्वाहा और पितृदान में स्वधा प्रशस्त है। इत्यादि विस्तार से इस अध्याय में स्वधा का उपाख्यान वर्णित है। पुनः इसी अध्याय में कहते हैं।

स्वधां संपूज्य यत्नेन ततः श्राद्धं समाचरेत्। स्वधां नाभ्यर्च्य यो विप्रः श्राद्धं कुर्य्यादहंमतिः॥ न भवेत् फलभाक् सत्यं श्राद्धस्य तर्पणस्य च। स्वधा स्वधा स्वधेत्येवं यदि वारत्रयं स्मरेत्॥ श्राद्धस्य फलमाप्नोति वलेश्च तर्पणस्य च। इत्यादि।

प्रथम स्वधा को यत्न से पूज तब श्राद्ध करे। जो विप्र स्वधा की पूजा न करके श्राद्ध करता है उस को श्राद्ध और तर्पण का फल नहीं मिलता है। जो स्वधा शब्द को तीन वार उच्चारण करे उसको श्राद्ध, वलि और तर्पण का फल मिलजाता है।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि पितरों के साथ जिस स्वधा शब्द का उच्चारण होता है वह पुराण के अनुसार पितरों की सहधर्मिणी अर्थात् पत्नी है।

* टीकाकार लिखते हैं कि ये सात पितृगण हैं। कव्यवाहोनलः सोम्यो यमश्चैवार्यमा तथा। अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सोमपाः पितृदेवताः॥

स्वधा और भागवत ॥

श्रीमद्भागवत भी यही कहता है ।

प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः । तस्यां ससर्ज दुहितॄः षोडशामललोचनाः ॥ त्रयोदशादाद्धर्माय तथैकामग्नये विभुः । पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे ॥ श्रद्धा मैत्री दया शान्तिः तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः । बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्त्तिर्धर्मस्य पत्नयः । इत्यादि । भागवत ४ । १ ।

दक्ष जी का विवाह प्रसूति से हुआ । उससे सोलह कन्याएं उत्पन्न हुईं । धर्म को त्रयोदश कन्याएं दीं । अग्नि को एक कन्या—स्वाहा और पितरों को एक कन्या स्वधा दी और रुद्र को भी सती कन्या दी । धर्म्म की पत्नियों के ये नाम हैं—श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, लज्जा और मूर्त्ति आगे पुनः इसी को विस्पष्ट करके कहते हैं यथाः—

अग्निष्वात्ताः बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः ।
साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायिणी स्वधा ॥ भा० ४ । १ । ६३॥

अग्निष्वात्त, बर्हिषद, सौम्य, आज्यप, साग्नि और अनग्नि इत्यादि जो पितर हैं । इन सबों की पत्नी स्वधा है जो दक्ष की कन्या है ।

इससे भी यही सिद्ध है कि सब पितरों की स्त्री स्वधा है ऐसेही सब पुराण मानते हैं । परन्तु क्या इसका भाव यही है ? क्या जैसे मनुष्य की स्त्री होती है वैसे ही पितृगणों की स्त्री स्वधा है यह पुराणों का आशय है ? नहीं । आप देखेंगे कि पुराण प्रत्येक विषय को आख्यायिका अर्थात् कथा कहानीरूप में लिखता है । भागवत में इसी प्रकरण में कहा है कि अग्नि की स्त्री का नाम स्वाहा है । क्या [illegible] अग्नि की स्त्री स्वाहा है ? नहीं । अलंकाररूप में यह वर्णन है । आगे पुनः [illegible] देखते हैं [illegible]

धर्म की ये तेरह स्त्रियां कही गई हैं। क्या धर्म्म भी कोई पुरुष विशेष है कि जिसकी स्त्री कोई मूर्त्तिमती देवी है। फिर स्त्रिएं कौन? श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति आदि। पौराणिक भाइयो! आप लोग पुराणों का भी तात्पर्य नहीं समझते हैं और मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि पुराणों के हृदय को समझने के लिये न तो आप स्वयं प्रयत्न करते हैं और न समझना चाहते हैं। भाइयो! अब देश में अन्धकार मत फैलाओ कुछ भी तो सोचो विचारो।

आप देखते हैं कि पितर एक नहीं दो नहीं चार नहीं पांच नहीं किन्तु पितरों के गण कहे गये हैं। अग्निष्वात्त, बर्हिषद, सौम्य, आज्यप, साग्नि, अनाग्नि ये सब एक एक का नाम नहीं किन्तु ये सब गण हैं। हज़ारों लाखों हैं। फिर सब पितरों की एक स्वधा स्त्री कैसे हो सकती है। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन मनुष्य मरते जाते हैं। इनके साथ भी आप स्वधा को लगा देते हैं फिर वह एक स्वधा लाखों कोटियों पुरुषों की स्त्री कल्प कल्पान्तर भर कैसे बनती जायगी। इसलिये इसका कुछ अन्यान्य भाव है यह आप को भी स्वीकार करना होगा। प्रथम देखिये शब्दकल्पद्रुम में "पिता" शब्द के ऊपर लिखा है किः—

३१ एकत्रिंशत् पितृगणा यथा—विश्वो विश्वभुगाराध्यो धर्म्मो धर्म्मः शुभाननः। भूमिदो भूमिकृत् भूतिः पितॄणां ये गणा नव॥ कल्याणः कल्पदः कल्पतरः कल्पतराश्रयः। कल्पता हेतुरनघः षडिमे ते गणाः स्मृताः॥ वरो वरेण्यो वरदो भूतिदः पुष्टिदस्तथा। विश्वपाता तथा धाता सप्तैते च गणाः स्मृताः॥ महान् महात्मा महितो महिमावान् महाबलः। गणाः पञ्च तथैवैते पितॄणां पापनाशनाः॥ सुखदो धनदो चान्यो धर्मदोऽन्यश्च भूतिदः। पितॄणां कथ्यते चैतत् गणचतुष्टयम्॥ एकत्रिंशत् पितृगणा यैर्व्याप्तमखिलं जगत्। [illegible] तुष्यन्तु दिशन्तु च सदा हितम्॥ इति गारुडे पितृ[illegible]॥

गरुड़ पुराण में पितरों के ३१ इकत्तीस गण कहे गये हैं। वे ये हैं-विश्व, विश्वभुग, आराध्य, धर्म्म, धन्य, शुभानन, भूतिद, भूतिकृत् और भूति ये ९ गण हैं। कल्याण, कल्यद, कल्पतर, कल्पतराश्रय, कल्पताहेतु और अनघ ये पितरों के ६ गण हैं वर, वरेण्य, वरद, भूतिद, पुष्टि, विश्वपाता और धाता ये ७ गण हैं। महान्, महात्मा, महित, महिमवान् और महाबल ये पितरों के ५ गण हैं। सुखद, धनद, धर्म्मद, और भूतिद ये चार गण हैं। ये पितरों के ३१ गण हैं जिनसे यह जगत् व्याप्त है। ये मेरे पितृगण तृप्त हो तुष्ट होवें और सदा हित का उपदेश करें। पुनः—

पितरों के इन ३१ इकत्तीस गणों की चर्चा मार्कण्डेय पुराण में भी समान ही है। इस के अतिरिक्त इस पुराण में पितृसम्बन्धी बड़ा लम्बा स्तोत्र है जिस में अनेक प्रकार के पितरों की चर्चा आती है उन के साथ "अग्निष्वात्ता बर्हिषदः आज्यपाः सोमपास्तथा। व्रजन्तु तृप्तिं श्राद्धेऽस्मिन् पितरस्तर्पिता मया" अग्निष्वात्त, बर्हिषद, आज्यप, सोमप इन चार गणों का भी वर्णन आया है। पुनः 'पितृयज्ञ' शब्द के ऊपर पितरों के अनेक गणों की चर्चा करते हुए शब्दकल्पद्रुम कहता है कि:—

सहस्राणां चतुः षष्टिरग्निष्वात्ताः प्रकीर्त्तिताः।
षडशीति सहस्राणि तथा बर्हिषदो द्विजाः॥

हे द्विजो! अग्निष्वात्त पितर ६४ चौसठ सहस्र हैं और बर्हिषद पितर ८६ सहस्र हैं।

ये दो गणों की संख्याएं दी गई हैं। आप अनुमान कर सकते हैं कि अन्यान्य गणों को मिला के कितनी संख्या होगी। इन सब गणों की एक स्वधा स्त्री कैसे हो सकती है। इस कारण 'स्वधा' शब्द का कुछ अन्य अर्थ अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा।

स्वधा शब्द का वास्तविक अर्थ ॥

जैसे विद्वानों की पदवी आचार्य्य, उपाध्याय, पाठक, गुरु आदि, वीरों की पदवी महावीर, योद्धा, बहादुर, देवेन्द्र, नरेन्द्र इत्यादि होती हैं वैसे ही पितरों की सामान्य पदवी 'स्वधा' है और विशेष पदवी अग्निष्वात्त बर्हिषद आदि हैं। (क) स्व

अर्थात् ज्ञाति, धन, आत्मा, आत्मीय इत्यादि और धा माने धारण। जिस शक्तिके द्वारा स्वीय कुल परिवार, धन, धर्म्म, कर्म्म, देश देशान्तर का अच्छे प्रकार धारण, पोषण, रक्षण हो उसे "स्वधा" कहते हैं। यही शब्दार्थ है वेदों में प्रायः स्वधा शब्द स्त्रीलिङ्ग है *। अब पितरों के साथ यह क्यों जोड़ा जाता इस में ये कारण हैं जो लोग, हरेक प्रकार से, अर्थात् विद्याप्रदान से, पुत्रोत्पादन से, युद्धादिक व्यापारों से, परोपकार करने से और अनेक प्रकार की रक्षण भरण पोषणादि से मनुष्यों को लाभ पहुंचाया करते थे, वे भी पितृसंज्ञक होते थे और ऐसे ही पुरुषों को 'स्वधा' की पदवी दी जाती थी क्योंकि इन में स्वधा शब्दार्थ यथार्थ रीति से घटता था। (ख) दूसरा अर्थ स्वधा शब्द का अन्न और जल है। जैसे जगत् के जीवों को अन्न और जल भरण पोषण करता है इसी प्रकार जो देश को अन्न के समान पालन करता है उसे भी स्वधा पदवी दीजाती। ऐसे महापुरुष पितृगण ही होते थे इस कारण भी पितरों को स्वधा पदवी दीगई थी। (ग) तीसरा अर्थ स्वधा का स्वभाव स्वधर्म्म आदि कहे हैं। अर्थात् मनुष्यता जैसी होनी चाहिये वैसी मनुष्यता के साथ जो विद्यमान होते थे वे भी स्वधा ग्रहण योग्य थे। पितृगणों में ये भी गुण वर्त्तमान थे क्योंकि जिस में मनुष्यता न हो वह कब सम्भव है कि हरेक प्रकार से देश की रक्षा के लिये उद्यत होसके। यह भी कह चुके हैं कि जिन्होंने विधिपूर्वक प्रथम ब्रह्मचर्य्य धारण करके वेदाध्ययन किया है और तत्पश्चात् गार्हस्थ्य धर्म्मावलम्बी हो पैत्रिकऋण शोधनार्थ पुत्र उत्पन्न किये हैं और पश्चात् पुत्र पौत्र के मुख को और आयु की ह्रासता को देख जो वनी अर्थात् वानप्रस्थाश्रमी हो जाते थे जिन की आयु दिन दिन घटती चली जाती थी ऐसे लोग भी पितृसंज्ञक होते थे। इनके लिये भी स्वधा शब्द का प्रयोग था। क्योंकि वे पितृगण विद्याध्ययन से ऋषिऋण को पुत्रोत्पादन से पितृऋण को और विविधयज्ञ

* लौकिक संस्कृतभाषा में जो स्वधा शब्द पितृवाचक शब्दों के साथ जोड़ा जाता है वह नमः, स्वाहा, स्वस्ति आदि के समान अव्यय है और "नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधाऽलं वषड्योगाच्च" इस सूत्र से स्वधा के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है जैसे पित्रे स्वधा, पितामहाय स्वधा, अग्निष्वात्ताय स्वधा इत्यादि।

से देवगण को मार्जन करते हैं अतः स्वधा हैं । और भी वृद्धावस्था होने के कारण इन को भरण पोषण की बड़ी आवश्यकता थी । इस हेतु से भी उपदेश दिया गया है कि पितरों को स्वधा अर्थात् अन्नादिक पदार्थों से प्रसन्न करो । इत्यादि अनेक कारणों का अनुसंधान आप कर सकते हैं इस प्रकार मार्गण करने से पता लग जायगा कि पितृगणों के साथ स्वधा का इतना प्रयोग क्यों था । अब आगे विस्तार से वर्णन करते हैं जिससे निखिल संशय दूर हो जायगा । बड़ी सावधानता से श्रवण कीजिये ।

स्वधा शब्द का पहिला अर्थ—स्वभाव, प्रकृति, स्वधारणशक्ति, स्वधारण, स्व-धर्म्म आदि । दूसरा—अन्न, जल, ऋतु, पृथिवी आदि । तीसरा—अपने कुल परिवार आदि का धारण पोषण करनेवाला । इत्यादि ' स्वधा ' में 'स्व+धा' दो शब्द हैं । १—स्व—स्वो ज्ञातावाऽऽत्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने । अमरकोश । ज्ञाति, आत्मा, आत्मीय और धन ये चार अर्थ स्वशब्द के हैं ।

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ॥ पाणिनि सूत्र १ । १ । ३५ ॥

इस सूत्र से सिद्ध है कि स्व शब्द ज्ञाति और धन अर्थ में आता है और इसके अति-रिक्त अन्य अर्थ में भी आता । कोश से प्रतीत होता है कि इसके चार अर्थ प्रसिद्ध हैं । धा—डुधाञ् धारणपोषणयोः । दानेप्येके । धा धातु धारण और पोषण अर्थ में आता है । कोई आचार्य्य कहते हैं कि दान अर्थ में आता है ।

स्वधा और प्रकृति आदि—"स्वं स्वकीयम् अस्तित्वं दधाति धारयतीति स्वधा प्रकृतिः" जो अपने अस्तित्व को धारण करे उसे स्वधा कहते हैं । प्रकृति का स्वभाव अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता है अतः प्रकृति का नाम स्वधा है । इस कारण पदार्थों के धर्म्म गुण वा स्वभाव का नाम ही स्वधा है ।

स्व+धा=स्व+धारणम् । निज का धारण इत्यादि अर्थ भी होगा ।

स्वधा और अन्न—२ स्वान् दधातीति स्वधा अन्नम् । स्वधा नाम अन्न का है क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि चराचर जीवों का शरीर अन्न से बनता है क्योंकि अन्न के खाने से रज वीर्य्य उस से यह शरीर बनता है । इस हेतु [illegible]

[illegible] का सन्तान है इस शरीर रूप सन्तान को अन्न ही पालता है अतः अन्न का नाम स्वधा है। इस अन्न के समान जो लोग अपने परिवार, ग्राम, देश, वेद, धर्म्म आदि की रक्षा करते हैं वे भी स्वधा हैं। २—स्वं ज्ञातिं धनम् आत्मानम् आत्मीयत्वं [illegible] पुष्णातीति स्वधाः। जो आदमी ज्ञाति अर्थात् कुल, परिवार, धन, आत्मा और आत्मीय अर्थात् निज सम्बन्धी, धर्म्म, कर्म्म, देश आदि की रक्षा करता है वह "स्वधा" है इस अर्थ में विशेषण होजाता है अथवा "स्वे धीयन्ते ध्रियन्ते पोष्यन्ते यया सा स्वधा" जिस शक्ति से आत्मा निजबन्धु, बान्धव, ग्राम देश आदि की रक्षा हो। उस शक्ति का नाम स्वधा है।

स्वधा और स्वाहा ॥

स्वधा शब्द के अर्थ की परीक्षा अन्य प्रकार से भी कर सकते हैं वह यह है। आप देखते हैं कि पितर और देवों का वर्णन परस्पर रात दिन अथवा प्रकाश और अन्धकार के समान विपरीत है। १—देवों का वास उत्तर परन्तु पितरों का दक्षिण। २—देवों का पक्ष शुक्ल परन्तु पितरों का कृष्ण। ३—देवों की पूजा पूर्णिमा में परन्तु पितरों की अमावास्या में देवों का समय दिन परन्तु पितरों का रात्रि। देवों का पूर्वाह्न परन्तु पितरों का अपराह्न। ४—देवों की गति—अर्चि (ज्वाला) दिन शुक्लपक्ष, उत्तरायण सूर्य्य आदि परन्तु पितरों की गति, धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन चन्द्र आदि। ५—देवों का सव्य और पितरों का अपसव्य। इत्यादि अनेक प्रकार के वर्णन शास्त्रों में परस्पर विपरीत पाये जाते हैं। इस कारण "स्वधा" और "स्वाहा" भी विपरीत अर्थ रखनेवाले होने चाहियें क्योंकि स्वधा शब्द का पितरों के साथ और स्वाहा शब्द का देवों के साथ प्रयोग हुआ करता है यह व्याकरण आदिकों का नियम है। "स्वाहा" शब्द के अर्थ यद्यपि अनेक हैं तथापि स्व-त्याग अर्थ प्रत्यक्ष है। क्योंकि जब कोई देव-कर्म्म के निमित्त वस्तु अग्नि में त्यागते हैं तब 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग करते हैं अग्नये [illegible] इत्यादि। व्युत्पत्ति करने से भी यही अर्थ प्रतीत होता है "स्वस्य आसमन्तात् [illegible] त्यागः इति स्वाहा अथवा स्वम् आहीयते सन्त्यज्यते अनेन ओहाक् त्यागे" जिस कर्म्म के [illegible] निज धन आदि का त्याग हो उसे 'स्वाहा' कहते हैं। स्व+आ+हा इस में तीन शब्द हैं।

जिस कारण 'स्वाहा' शब्द का अर्थ 'स्व-याग मुख्य है अतः इसके विपरीत 'स्वधा' शब्द का 'स्वधारण' अर्थ करना उचित होगा। यही अर्थ पितरों के साथ घटता भी है 'पितृ' शब्दार्थ रक्षण पालन प्रसिद्ध है। जिस कर्म से वा जिस शक्ति से पितरगण स्व अर्थात् अपने आत्मा अपने आत्मीय गुण, आत्मीय ग्राम, देश, बन्धु, बान्धव, विद्या आदि की रक्षा करें उसे स्वधा कहते हैं। इस हेतु पितरों की स्वधा यह साधारण पदवी अर्थात् सर्वगामी पदवी है और अग्निष्वात्त, बर्हिषद, सोमसद, आज्यप, भृगु, आङ्गिरा आदि विशेष पदवी हैं। पितर कितने प्रकार के हैं इस को आगे कहेंगे। अब आप विचार कर सकते हैं कि यथार्थ में पितरोंके साथ इतना स्वधा क्यों लगा हुआ है। पितरों के साथ स्वधा शब्द के प्रयोग का मुख्य कारण यही है गौण कारण का भी आगे वर्णन करेंगे परन्तु पुराण यह नहीं समझ के कहता है कि स्वधा पितरों की स्त्री है।

पितृगण और अन्नवाचक स्वधा ॥

आगे उदाहरणों से आप को मालूम होगा कि प्रायः आचार्यों ने स्वधा शब्द का अर्थ अन्न भी किया है। प्रश्न होता है कि पितरों के साथ अन्न की चर्चा इतनी क्यों? क्या पितरों को अन्न नहीं मिलता था या जैसे आधुनिक पौराणिक कहते हैं कि यहां से पुत्रों के द्वारा भेजे हुए अन्न स्वर्गादिक स्थानों में पितरों को प्राप्त होते हैं अन्यथा पितर भूखों मरते हैं। इस कारण क्या अन्न की अधिक चर्चा है। यह द्वितीय बात इस कारण सत्य नहीं हो सकती है कि जो जीव जहां हैं वहां ईश्वर ने उन के खाने पीने का प्रबन्ध किया है और यदि पितृगण मनुष्यों के आधीन होते तो उनके साथ मनुष्यों का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता अथवा जिन पितरों के यहां से अन्न नहीं मिलता है वे यहां आ अपने सन्तानों को कुछ कहा सुना करते। आगे इस मत का विस्तार से वर्णन करेंगे। अब प्रथम बात रह गई कि पितरों के साथ अन्न ही अन्न क्यों लगे हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह पितर और अन्न का सम्बन्ध ही सूचित करता है कि यह यज्ञ जीवित पितरों का है। एवमस्तु। इसके स्वाभाविक दो कारण हैं। यह निकृष्ट पुरुषों का स्वभाव है कि वृद्ध होने पर अपने माता पिता की सेवा नहीं करते हैं आप देखते

हैं कि जब आदमी वृद्ध हो जाता है तब कमाकर खाने में असमर्थ हो जाता है यहां तक कि मल मूत्र भी उठ के नहीं कर सकता है, सारी शारीरिक दशा शिशुवत् हो जाती है। इस समय दूसरों की सहायता की बडी आवश्यकता होती है इस हेतु बारम्बार वेद चिताता है कि ऐ मनुष्यो ! ऐसे वृद्धतम पितरों की अन्नादिक से खूब सेवा सुश्रूषा करो अन्यथा तुम्हारी गति अच्छी नहीं होगी। ये वृद्धगण इस अवस्था में तुम्हारी सहायता की आकांक्षी बन रहे हैं इनकी अवहेला मत करो इनकी शक्तिको स्थिर रखने के लिये सुन्दर सुन्दर खाद्य पदार्थ दो इसी से ये प्रसन्न हो के तुम्हें आशीर्वाद देंगे। एक तो यह कारण था दूसरा कारण यह है। मैं प्रथम कह चुका हूं कि पितृ शब्दार्थ रक्षक भी है। अब इस बात का ध्यान रक्खें कि जो पुरुष देश की रक्षा में सब प्रकार से लगे हुए हैं वे स्वयं खेत वा व्यापार वा किसी एक की नौकरी भी नहीं कर सकते हैं। इन के खान पान के प्रबन्ध भी वे ही देशवासी रक्ष्यपुरुष करेंगे तब ही वे भी रक्षा करने में समर्थ होवेंगे। इस कारण वेद उपदेश देता है कि ऐसे रक्षकों को, ऐ मनुष्यो ! स्वधा अर्थात् अन्नादिक से पूर्ण सत्कार करो तभी तुम्हारा हित है। अब आप विचार सकते हैं कि पितरों के साथ अन्न इतना क्यों लगा हुआ है और यह जीवितों में या मृतकों में घटता है।

स्वधा और ऋचाएं ॥

आदह स्वधा मनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे ।
दधाना नाम यज्ञियम् ॥ १ । ६ । ४ ॥

(आत्+अह) अनन्तर (यज्ञियम्+नाम+दधाना) यज्ञिय अर्थात् प्रशंसनीय जल को धारण करते हुए मरुद्गण (पुनः) फिर (स्वधाम्+अनु) अपने स्वभाव के अनुसार (गर्भत्वम्+एरिरे) मेघ में गर्भ की प्रेरणा करते हैं अर्थात् जल बनाना आरम्भ करते हैं। आद्+अह=अनन्तर अर्थ में ये दोनों शब्द निपातसंज्ञक हैं। ईर् गतौ, कम्पने च। आ+ईर् से एरिरे बनता है। नाम=जल। निघण्टु। १। १२ ॥ स्वधा=स्वधा का अर्थ यहां स्वभाव=प्रकृति है। इस सामुद्रिक वायु का प्रतिवर्ष आने का स्वभाव है।

भाव—ग्रीष्मऋतु के अनन्तर अपने स्वभाव के अनुसार प्रतिवर्ष सामुद्रिक वायु चलना आरम्भ होता है जिसके कारण से आकाश में मेघ बन जाता है । स्वामी जी यहां स्वधा का अर्थ जल करते हैं । रमेशचन्द्रदत्त इस ऋचा का अर्थ यों करते हैं:- "ताहार पर (मरुद्गण) यज्ञार्ह नाम धारण करिया, स्वीय प्रकृति अनुसारे मेघेर मध्ये जलेर गर्भाकार रचना करिलेन" इनके मत से भी स्वधा का अर्थ प्रकृति अर्थात् स्वभाव है। सायण यहां स्वधा शब्दका अर्थ अन्न और जल करते हैं। "स्वधा स्वं लोकं दधाति पुष्णातीति स्वधा सायणः" जो अपनें लोक को धारण पोषण करे उसे स्वधा कहते हैं ।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यञ्चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्॥

यह जीवात्मा और शरीर का वर्णन है (मर्त्येन+सयोनिः) मर्त्य=विनश्वर शरीर के साथ समान स्थान वाला अर्थात् शरीर के साथ निवास करने वाला वह (अमर्त्यः) अविनश्वर जीवात्मा (स्वधया+गृभीतः *) अपने स्वभाव से गृहीत होके कभी दुष्कर्म से (अपाङ्+एति) नीचे अथवा उलटा जाता है और कभी सुकर्म से (प्राङ्+एति) ऊपर अथवा सीधा जाता है । अब आगे दोनों को साथ वर्णन करते हैं। वे दोनों मर्त्य और अमर्त्य कैसे हैं । (ता+शश्वन्ता) प्रवाहरूप से सर्वदा रहनेवाले अथवा अ-विभागरूप से सदा वर्त्तमान पुनः (विषूचीना) इस लोक में सर्वत्र गमन करनेवाले पुनः (वियन्ता) उस २ फल के भोग के लिये सर्वत्र गगम शील ऐसे दोनों हैं (अन्यम्+नि+चिन्युः) इन दोनों से में वे अज्ञानीजन अम्य अर्थात् शरीर को जानते हैं परन्तु (अन्यम्+न+निचिक्युः) दूसरे जीवात्मा को नहीं जानते हैं । यहां विस्पष्ट प्रतीत होता है कि 'स्वधा' शब्द का अर्थ प्रकृति अर्थात् स्वभाव है । अपनी प्रकृति के वश हो यह जीवात्मा सुकर्म और दुष्कर्म करता है । अतः कहा गया है कि "स्वधया गृभीतः" वह स्वधा अर्थात् स्वभाव से गृहीत है । स्वामीजी-स्वधया जलादिना । जल

* वेदों में गृहीत को ही गृभीत कहते हैं ॥

आदि अर्थ करते हैं। आदि पद से स्वभाव आदि का ग्रहण है । सायण—"स्वधा अन्नोपलक्षित-तत्तद्-भोगन गृभीतः । यद्वा स्वधा शब्देन अन्नमयं शरीरं लक्ष्यते तेन गृहीतः" कहते हैं कि स्वधा का अर्थ अन्नोपलक्षित भोग यद्वा अन्नमय शरीर है।

ग्रिफिथ—Back, forward goes he, grasped by strength inherent, the Immortal born the brother of the mortal. Ceaseless they move in opposite directions: men mark the one and fail to mark the other. यह सम्पूर्ण ऋचा का अनुवाद है इस के अनुसार भी स्वाभाविक गुण अर्थ स्वधा का है।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥
ऋ० १० । १२९ । २ ॥

अर्थः—(न+मृत्युः+आसीत्) सृष्टि के प्रथम मृत्यु नहीं था (न+अमृतम्) और न अमृत ही था (तर्हि) और उस समय (रात्र्यः) रात्रि का और (अह्नः) दिन का (प्रकेतः) ज्ञान भी (न+आसीत्) नहीं था। तब क्या था सो आगे कहते हैं (स्वधया) प्रकृति के साथ (अवातम्) अप्राण अर्थात् वायु-रहित (तत्+एकम्) वही एक ब्रह्म (आनीत् *) प्राण धारण कर रहा था (ह) निश्चय (तस्मात्+ह+अन्यत्) उस ब्रह्म से अन्य (किञ्चन) कुछ भी (न+आस) नहीं था। कब ऐसी दशा थी सो कहते हैं (परः) सृष्टि के प्रथम ।

यह ऋचा सृष्टि की उत्पत्ति की पूर्व दशा सूचित करती है । इस हेतु बड़े तर्क वितर्क और विवाद करते हुए सायण यहां स्वधा शब्द का अर्थ माया अर्थात् प्रकृति करते हैं इनका शब्द यह है यथा—"नन्वीदृशस्य ब्रह्मणः मायया सह सम्बन्धाभावात् सांख्याभिमता स्वतन्त्रा सद्रूपा सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका मूलप्रकृतिरेवाभिमतेति किं नो सदिति निषेधः । तत्राह । स्वधयेति । स्वस्मिन् धीयते ध्रियते आश्रित्य वर्तत इति स्वधा माया । तया तद्ब्रह्म एकम् अविभागापन्नमासीत् । इत्यादि । ग्रिफिथ का अनुवाद—

* आनीत् । श्वस प्राणने । अनच । प्राणनार्थक अन धातु से लुङ् का रूप ।

Death was not then, nor was there aught immortal; no sign was there, the day's and night's divider. That One yhing, breathless, breathed by own nature, apart from it was nothing whatsoever.

ग्रिफिक के अनुसार स्वधा का अर्थ स्वाभाविक धर्म्म है । पुनः—

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥
१० । १५ । १२ ॥

(जातवेदः+अग्ने) हे सब को जानने वाले संदेशवाहक दूत ! (ईलितः) आप हम लोगों से सुपूजित हो (हव्यानि+सुरभीणि+कृत्वी) हव्य पदार्थों को सुगन्धित कर के (अवाट्) पितरों के समीप ले जायं और (पितृभ्यः+प्रादाः) पितरों को देवें । (स्वधया) स्वधर्म्म के साथ वर्त्तमान (ते) वे पितृगण (अक्षन्) उन हव्यों को खायं पश्चात् (त्वम्+देव) हे देव आप भी (प्रयता+हवींषि) प्रयत्नपूर्वक सम्पादित हविष्यों को (अद्धि) खायं ।

यहां आप देखते हैं कि वेद कहता है कि जो पितृगण स्वधा के साथ वर्तमान हैं । स्वधा अर्थात् स्वधर्म्म जो कभी अपने धर्म्म को नहीं त्यागते । इससे प्रतीत होता है कि स्वधा पितृपदवी है । सायण कहते हैं—"स्वधया स्वधाकारेण दत्तं हविः अक्षन् अदन्तु" स्वधाकार अर्थात् स्वधाशब्द का उच्चारण करके दिये हुए हवि को पितर खायं । स्वधाशब्दोच्चारण-पूर्वक पितरों को हवि क्यों दिया जाय ? यहां "स्वधा" का अर्थ अन्न नहीं हो सकता, क्योंकि अन्नवाचक हव्य और हविष शब्द विद्यमान है । इस हेतु विचारशील पुरुषों को तत्काल मालूम होगा कि 'स्वधा' पितृ-पदवी है । इस शब्द को सुन के देशाभिमानी, कुलाभिमानी मनस्वी पितरों को प्रसन्नता होती है ।

ग्रिफिथ—With swadha: with the sacrificial exclamalianor with their allotted partion.

नमो देवेभ्यः । स्वधा पितृभ्यः । सुयमे मे भूयास्तम् । य०२।७

देवों को=नवयुवक पुरुषों को नमः अर्थात् नम्रता प्राप्त हो । पितरों को स्वधा अर्थात् स्वधारणशक्ति और अन्नजलादिक प्राप्त हो । अथवा देव अर्थात् विद्वद्गणों को नमस्कार हो और पितरों अर्थात् रक्षकों को स्वधा अर्थात् स्वधारणशक्ति, स्वधर्म्म प्राप्त हो । हे देवशक्ति पितृ-शक्ति आप दोनों (मे) मेरे लिये (सुयमे) सुयत अर्थात् प्रयत्न वाली (भूयास्तम्) होवें । यहां विस्पष्ट प्रतीत होता है कि पितरों के लिये स्वधा की पदवी होनी चाहिये ।

नमो वः पितरः स्वधायै ॥ यजु० २ । ३२ ॥

(पितरः) हे पितृगणो ! (वः) आप लोगों को (स्वधायै) स्वधारण अर्थात् स्व रक्षा के लिये (नमः) धन्यवाद अर्थात् प्रशंसा है अथवा आप की जो स्वरक्षा-शक्ति है उसका आदर हम करें अर्थात् उसके महत्त्व को हम समझें * ॥

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् । स्वधाः स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ यजु० २ । ३४ ॥

पुरुष निज गृह की गृहिणियों से कहता है कि ऐ गृहिणियो ! आप गृह में (स्वधाः+स्थः) स्व अर्थात् अपने पुत्र, पौत्र, भ्राता, देवर, पति आदिकों की पोषण करनेवाली हो। इस कारण (मे+पितॄन्) मेरे वृद्ध पिता, माता, पितामह, पितामही, प्रपितामह, प्रपितामही को अच्छे प्रकार (तर्पयत) शुश्रूषा से प्रसन्न रक्खो । और

---

* "स्वामीजी—"स्वधायै अन्नाय, पृथिवीराज्याय, न्यायप्रकाशाय स्वधेत्यन्ननामसु पठितम् । निघण्टु २।७ ॥ स्वधेति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम् । निघण्टु ३ । ३० ।" अन्न, पृथिवी, राज्य और न्याय स्वधा शब्द का अर्थ करते हैं ।

महीधर—स्वधायै शरदे स्वधा वै शरद् । स्वधा वै पितृणामन्नमितिश्रुतेः । शरदि हि प्रायशोऽन्नानि भवन्ति । स्वधा शब्दका अर्थ शरद् करते हैं ।

(ऊर्जम्) रस अर्थात् अनेक प्रकार के रसयुक्त पदार्थ (अमृतम्) सर्व-रोग-नाशक (घृतम्) घी (पयः) दूध (कीलालम्) सुसंस्कृत अन्न अथवा जल और (परिस्रुतम्) परिपक्व फल इत्यादि खाद्य पदार्थों को (वहन्तीः) पितरों के निकट पहुंचाती हुई आप उनकी सेवा करो । स्वधा—यहां यह शब्द विशेषण हो के आया है । कोई कोई जल का विशेषण कहते हैं ।

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन् पितरः । अमीमदन्त पितरः । अतीतृपन्त पितरः । पितरः शुन्धध्वम् । यजुः १९ । ३६ ॥

अर्थ—(स्व+धायिभ्यः) स्व अर्थात् अपने गोत्र, सन्तान, धर्म्म, देशों के धायी धारण पोषण करनेवाले (पितृभ्यः) पितरों को (स्वधा+नमः) सर्वदा स्वधारण शक्ति और स्वधर्म्म प्राप्त हो । इसी प्रकार (स्व+धायिभ्यः पिता०) स्व=धायी पितामहों को स्वधर्म्म प्राप्त हो (स्व+धायिभ्यः+प्रपितामहेभ्यः) स्वधायी प्रपितामहों को स्वधर्म्म प्राप्त हो । पितरः अक्षन्) हे पिता, पितामह, प्रपितामह तथा माता, पितामही, प्रपितामही आदि मान्य पितरो ! आप मेरे गृह पर भोजन करें (पितरः अमीमदन्त) हे पितरो ! भोजन ग्रहण की कृपा से आप प्रसन्न हो हम सन्तानों को प्रसन्न करें और (पितरः अतीतृपन्त) हे पितरो ! आप तृप्त होके हमें तृप्त करें (पितरः शुन्धध्वम्) आप अपने आगमन से हमारे गृहों को और उपदेशों से हम लोगों को शुद्ध करें करावें । अथवा स्वधायी अर्थात् स्वधा चाहनेवाले पितरों को स्वधा अर्थात् अन्नादिक प्राप्त हो इत्यादि । स्वधायी=स्व+धायी । जैसे बहुदायी धनदायी सुरापायी चिरस्थायी स्थायीकोश इत्यादि प्रयोगों में दा, पा, स्था धातुओं से दायी, पायी, स्थायी आदि शब्द बनते हैं तद्वत् धा धातु से धायी बनता है । "स्वान् धातुं धारयितुं शीलं यस्य स स्वधायी" अपने पुत्र पौत्रादिक जगत् को धारण पोषण करने का शील अर्थात् स्वभाव जिस को हो वह स्वधायी । इस से सिद्ध है कि पितर लोग स्वधायी=([illegible]) होते हैं

स्वधा और स्वधायी एकार्थक हैं । प्रत्नम्=प्रक्षम् आदि वैदिक प्रयोग हैं । सब काल और सब पुरुष में बन जाते हैं ।

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये । तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥ यजु० १९ । ४५ ॥

(ये+पितरः+समानाः+समनसः) जो पितर समान और समनस् अर्थात् परम मननशील हैं जो (यमराज्ये) धर्म्मरूप राज्य में विचरण करते हैं (तेषां) उन के समान (लोकः) स्थान, संगति (स्वधा) स्वधारणशक्ति (नमः) आदर और (यज्ञः) यज्ञ (देवेषु) हम पुत्र पौत्रादिकों में (कल्पताम्) प्राप्त होवें ।

जो पितर बड़े मननशील और धर्म्म के साथ सब व्यवहार करनेवाले हैं । उनके जैसे संग, स्व-धारण शक्ति, आदर और पूजापाठादि आचरण हैं वे सब हम पुत्र पौत्रादिकों में भी प्राप्त हों । यम इस शब्द के अनेक अर्थ आगे दिखलाये जायंगे । पितृ सम्बन्ध में यम शब्द प्रायः मृत्यु अथवा धर्म्मवाचक होता है । जो आयु (उम्र) में बढ़ रहे हैं वे देव और जो घट रहे हैं वे पितर कहाते हैं क्योंकि हम पूर्व में कह आये हैं कि उत्तरायण देव और दक्षिणायन पितर इसी प्रकार शुक्लपक्ष देव और कृष्णपक्ष पितर । पूर्वाह्ण देव और अपराह्ण पितर । इत्यादि सब उदाहरण सिद्ध करते हैं कि बढ़ते हुए को देव और घटते हुए को पितर कहते हैं अतः मैंने देव शब्दार्थ यहां पुत्र पौत्रादिक किया है क्योंकि इस अवस्था में इन की आयु बढ़ती रहती है । अथवा (तेषां+लोकः) पितरों का जो लोक अर्थात् वानप्रस्थरूप लोक है वह (स्वधा+नमः) स्वधा होवे अर्थात् स्वाभाविक धर्म्मयुक्त होवे अथवा उन के मध्य में निज आत्मा के धारण करने की शक्ति होवे । वे शीघ्र यहां से प्रस्थान न करें यह भाव है । और (देवेषु) पुत्र पौत्रादिक देवों में (यज्ञः कल्पताम्) पितृभक्ति, पितृश्रद्धारूप पितृयज्ञ प्राप्त होवे इत्यादि । इस पक्ष में स्वधा शब्द विशेषण होगा । महीधर प्रथमान्त ' लोक ' शब्द को सप्तम्यन्त करके अर्थ करते हैं सो कल्पना-गौरव के हेतु त्याज्य है ।

स्वधा और अथर्ववेद ॥

व्याकरोमि हविषाऽहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्यहं कल्पयामि ।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान् सृजामि॥
अथर्ववेद १२ । २ । ३२ ॥

ईश्वर कहता है कि (अहम्) मैं (हविषा) नियम से (एतौ+तौ) इन देव अर्थात् सन्तानगण और पितृ-गण इन दोनों गणों को (व्याकरोमि) पृथक् करता हूं (अहम्) मैं (ब्रह्मणा+वि+कल्पयामि) वेद के द्वारा यह विकल्प करता हूं (पितृभ्यः) पितरों के लिये (अजराम्+स्वधाम्) अजरा अर्थात् अजीर्णा=चिरस्थायिनी स्वधा अर्थात् स्वधर्म पालन-शक्ति (कृणोमि) करता हूं (इमान्) इन पुत्र पौत्रादिक देवों को (दीर्घेण+आयुषा) दीर्घ आयु से (सं+सृजामि) संयुक्त करता हूं । यह पितरों के लिये अजरा स्वधा के और देवों के लिये दीर्घ आयु के विधान से सिद्ध है कि स्वधा एक पदवी है जो सदा चिरस्थायिनी हो ।

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः ।
दानेन राजन्योवशाया मातुर्हेडं न गच्छति ॥ अथर्व०१२।४।३२॥

(राजन्यः) जो प्रजापालकजन (पितृभ्यः+स्वधाकारेण) पितरों को स्वधाकार= स्वधर्म्मरक्षा से (देवताभ्यः+यज्ञेन) अग्नि, वायु आदि देवों को और विद्वानों को यज्ञ से तथा अन्यान्य जीवों को यथाशक्ति (दानेन) दान से प्रसन्न रखता है वह उन कारणों से (वशायाः+मातुः) स्ववश पृथिवी माता के (हेडम्+न+गच्छति) क्रोध को प्राप्त नहीं होता है ।

भाव=जो राजा स्वधर्म स्वदेश आदि की रक्षा से पितरों को प्रसन्न रखता है। क्योंकि पितर स्वरक्षा से ही प्रसन्न होते हैं और यज्ञों से देवों को और अन्यान्य पुरुषों को सब प्रकार के दानों से प्रसन्न रखता है उसके ऊपर पृथिवी क्रोध नहीं करती है अर्थात् पृथिवीस्थ पुरुषों का क्रोध उस पर नहीं होता । यहां "स्वधाकार" शब्द है जिस में कार

प्रत्यय लगा रहता है वह केवल शब्द स्वरूप को ही सूचित करता है जैसे अकार, इकार, ककार, खकार आदि । अब वही शंका होगी कि पितरों के लिये स्वधा शब्द का उच्चारण क्यों करना चाहिये और उस से पितृगण क्योंकर तुष्ट होंगे निःसन्देह इस का समाधान इसप्रकार का होगा कि अपने देश धर्म्मादिकों की जो रक्षा कर चुके हैं उन को वही प्रिय प्रतीत होगी । अतः वे पितृगण जब २ स्वदेश धर्म्म कर्म्मादिकों की रक्षा का समाचार श्रवण करेंगे तब २ अवश्य प्रसन्न होंगे इस हेतु पितरों के निकट स्वधा शब्द के उच्चारण की विधि है ।

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त । स्वधएहीति ॥ ५ ॥ तस्या यमो राजा वत्स आसीत् रजतपात्रं पात्रम् ॥ ६ ॥ तामन्तको मार्त्यवोऽधोक् तां स्वधामेवाऽधोक् ॥ ७ ॥ तां स्वधां पितर उपजीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

(सा+उदक्रामत्) वह विराट् देवी आगे चली वह पितरों के समीप आई पितरों ने उसे बुलाया हे स्वधा ! यहां आओ । उस का वत्स यम राजा था और रजतपात्र (श्वेत) (पात्रम्) पात्र (मार्त्यवः+अन्तकः) मृत्यु पुत्र अन्तक ने उसे दूहा । उस से स्वधा को ही दूहा । उस स्वधा के आश्रित पितर जीते हैं । जो ऐसा जानता है वह उपजीवनीय होता है ।

वह विराट् देवी कौन है । वह पितरों के समीप जाके स्वधा नाम से क्यों पुकारी गई इत्यादि अर्थों के ज्ञान के लिये मैं यहां अथर्ववेद के इस सम्पूर्ण प्रकरण का अनुवाद करता हूं इस से स्वधा शब्दार्थ भी खुल जायगा ।

विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥१॥ सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥२॥ गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥३॥ सोदक्रामत् साऽऽहवनीये न्यक्रामत् ॥४॥ यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥ सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥ ६ ॥ यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥ अथर्ववेद कांड ८ । सूक्त १० ॥

अर्थ—(विराट्+वै०) निश्चय एक विराट् ही आगे यह थी। उसके उत्पन्न होने पर (सर्वम्+अबिभेद्) सब डर गए कि यही यह होगी अर्थात् यही विराट् सर्वत्र व्यापक हो जायगी ॥ १ ॥ (सा+उदक्रामत्) वह ऊपर को चली। वह गार्हपत्याग्नि में प्रविष्ट हुई ॥ २ ॥ जो ऐसा जानता है वह गृहमेधी गृहपति होता है ॥ ३ ॥ वह ऊपर को चली। वह आहवनीय में प्रविष्ट हुई ॥ ४ ॥ जो ऐसा जानता है वह देवों का प्रिय होता है और (अस्य+देवहूतिम्+देवाः+यन्ति) इस के देव यज्ञ में सब देव जाते हैं ॥ ५ ॥ वह ऊपर को चली। वह दक्षिणाग्नि में प्रविष्ट हुई ॥ ६ ॥ जो ऐसा जानता है वह (यज्ञर्तः) यज्ञ के योग्य (दक्षिणीयः) मान्य और (वासतेयः) दूसरों को वास देने योग्य होता है ॥ ७ ॥

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८ ॥ यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥ सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ १० ॥ यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥ सोदक्रामत् साऽऽमन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥ यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥ १३ ॥ अथर्व ८। १० ॥

वह ऊपर को चली। वह सभा में प्रविष्ट हुई ॥ ८ ॥ जो ऐसा जानता है वह सभ्य होता और इस की सभा में लोग जाते हैं ॥ ९ ॥ वह ऊपर को चली वह समिति में प्रविष्ट हुई ॥ १० ॥ जो ऐसा जानता है वह सामित्य अर्थात् समिति के योग्य होता है। और इस की समिति में लोग जाते हैं ॥ ११ ॥ वह ऊपर को चली आमन्त्रण में प्रविष्ट हुई ॥ १२ ॥ जो ऐसा जानता है वह आमन्त्रणीय होता है। और इसके आमन्त्रण में लोग जाते हैं ॥ १३ ॥

सोदक्रामत् साऽन्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ॥ १ ॥ तां देव मनुष्या अब्रुवन्नियमेव तद् वेद यदुभय उपजीवेमेमामुपह्वयामहा इति ॥ २ ॥ तामुपाह्वयन्त ॥ ३ ॥ ऊर्ज एहि स्वध एहि सूनृत एहि इरावत्येहीति ॥ ४ ॥ तस्या इन्द्रो वत्स आसीद् गायत्र्यभिधान्यभ्रमूधः ॥ ५ ॥

च रथन्तरञ्च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ ॥ ६ ॥ ओषधीरेव रथन्तरेण देवा अदुहन् व्यचो बृहता ॥ ७ ॥ अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥ ओषधीरेवास्मै रथन्तरं दुहे व्यचो बृहत् ॥ ९ ॥ अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥ १० ॥

अर्थ—वह ऊपर को चली वह चार प्रकार से फैल के खड़ी होगई ॥ १ ॥ उस के विषय में देव और मनुष्य कहने लगे कि यही विराट् देवी उस को जानती है जिस के आश्रय से हम दोनों जीवन धारण कर सकेंगे। आओ इस को हम बुलावें ॥ २ ॥ उन्होंने उस को पुकारा ॥ ३ ॥ (ऊर्जे+एहि) हे ऊर्जा=बल देनेवाली आओ। (स्वधे+एहि) ऐ स्वधा आओ। (सूनृते+एहि) हे सूनृता=सत्यभाषणरूपा देवी आओ। (इरावति+एहि+इति) हे इरावती मुक्ति देनेवाली आओ ॥ ४ ॥ जिस कारण यह विराट् चार प्रकार से आकाश में स्थित हो गई थी इस हेतु ऊर्जा, स्वधा, सूनृता और इरावती इन चारों नामों से पुकारी गई है। यह भी ध्यान रखना चाहिये इन चारों नामों से धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष का ग्रहण है। आगे इस विराट् को गोरूप में वर्णन करते हैं। (तस्याः+इन्द्रः+वत्सः+आसीत्) उस विराट् रूपा गौ का वत्स इन्द्र है। गायत्री, अभिधानी = रस्सी, दुग्धपात्र है। अभ्र = मेघ, ऊध = स्तन प्रदेश है। बृहत् और रथन्तर दो स्तन=थन हैं और यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य दो स्तन हैं ॥ ६ ॥ देवों ने इस के रथन्तररूप स्तन से ओषधियों को दुहा और बृहत्रूप स्तन से व्यच अर्थात् व्यापकता को दुहा। ७। वामदेव्यरूप स्तन से जल को और यज्ञायज्ञियरूप स्तन से यज्ञ को। ८। (आगे फल कहते हैं) जो ऐसा जानता है उसको रथन्तर ओषधियें देता है। बृहत् व्यच् देता है। वामदेव्य जल देता है और यज्ञायज्ञिय यज्ञ देता है। ९। १० ॥

सोदक्रामत् सा वनस्पतीनागच्छत् तां वनस्पतयोऽघ्नत सा संवत्सरे समभवत्। तस्मात् वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति वृश्चतेऽस्याप्रियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥ २ ॥ सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोऽघ्नत सा मासि समभवत् ॥ ३ ॥ तस्मात् पितृभ्यो

मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥ सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा अघ्नत साऽर्धमासे समभवत् ॥ ५ ॥ तस्माद्देवेभ्योऽर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ६ ॥ सोदक्रामत् सा मनुष्यानागच्छत् तां मनुष्या अघ्नत सा सद्यः समभवत् ॥ ७ ॥ तस्मान्मनुष्येभ्य उभयेद्युरुपहरन्ति उपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद । ८ ।

वह ऊपर को चली वह वनस्पातियों के समीप आई । उसको वनस्पतियोंने हनन किया वह संवत्सर में संभव हुई ॥१॥ इस हेतु प्रत्येक संवत्सर में वनस्पति (वृत्त) यों का छिन्न भिन्न स्थान भी भर आता है । जो ऐसा जानता है उसका शत्रु भी वृक्ण होता है ॥ २ ॥ वह आगे चली वह पितरों के निकट आई पितरों ने उसको हनन किया । वह मासरूप में संभव हुई ॥ ३ ॥ इस हेतु पितरों को मास मास में सम्मान देते हैं जो ऐसा जानता है वह अच्छे प्रकार पितृयाण पथ को जानता है ॥ ४ ॥ वह आगे चली वह देवों के निकट आई उसको देवों ने हनन किया वह अर्धमासरूप में संभव हुई ॥ ५ ॥ इस हेतु लोग देवों के लिये अर्धमास में वषट् अर्थात् यज्ञ करते हैं जो ऐसा जानता है वह अच्छे प्रकार देवयान पथ को जानता है ॥ ६ ॥ वह आगे चली वह मनुष्यों के निकट आई । उसको मनुष्यों ने हनन किया वह तत्काल ही संभव हुई है ॥ ७ ॥ इस हेतु मनुष्यों (अतिथियों) के लिये दोनों साम भोजन लाते हैं । जो ऐसा जानता है उसके गृह पर लोग भोजन लाते हैं ॥ ८ ॥

सोदक्रामत् साऽसुरानागच्छत् । तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति ॥ १ ॥ तस्या विरोचनः प्राह्रादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् । ॥२॥ तां द्विमूर्धाऽऽर्त्व्योऽधोक् तां मायामेवाधोक् ॥३॥ तां मायामसुरा उपजीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अर्थ—वह आगे चली वह असुरों के निकट आई । उसको असुरों ने पुकारा हे माया आओ । १ । प्राह्लाद विरोचन उसका वत्स था लौह पात्र पात्र था । २ । उस

को आर्त्ये द्विमूर्धा ने दूहा, उसने उससे माया को ही दूहा ॥ ३ ॥ उसी माया के आश्रित असुरगण जीवन निर्वाह करते हैं। जो ऐसा जानता है वह जीविकाप्रद होता है ॥४॥

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥५॥ तस्या यमोराजा वत्स आसीद् रजतपात्रं पात्रम् ॥ ६ ॥ तामन्तको मार्त्यवोऽधोक् तां स्वधामेवाऽधोक् ॥ ७ ॥ तां स्वधां पितर उपजीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

अर्थ—वह आगे चली वह पितरों के निकट आई। उसको पितरों ने बुलाया हे स्वधा आओ ॥ ५ ॥ यमराजा उसका वत्स था और रजतपात्र पात्र था ॥ ६ ॥ मार्त्यव अन्तक ने उसको दूहा। उसने उससे स्वधा को ही दूहा ॥ ७ ॥ उस स्वधा के आश्रित पितृगण जीवन निर्वाह करते हैं। जो ऐसा जानता है वह उपजीवनीय होता है।

सोदक्रामत् सा मनुष्यानागच्छत् तां मनुष्या उपाह्वयन्त इरावत्येहीति ॥९॥ तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् ॥१०॥ तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाऽधोक् ॥११॥ ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या उपजीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति यएवंवेद ॥१२॥

अर्थ—वह आगे चली वह मनुष्यों के निकट आई। उस को मनुष्यों ने बुलाया हे इरावती आओ ॥ ९ ॥ वैवस्वत मनु उस का वत्स था और पृथिवी पात्र थी ॥१०॥ वैन्य पृथी उस को दूहा उस ने उससे कृषि और सस्य को ही दूहा ॥ ११ ॥ उस कृषि और सस्य के आश्रित मनुष्य जाते हैं। जो ऐसा जानता है वह कृषिविद्या में निपुण और उपजीवनीय होता है ॥ १२ ॥

सोदक्रामत् सा सप्तऋषीनागच्छत् तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥ १३ ॥ तस्याः सोमो राजा वत्स आसीत् छन्दःपात्रम् ॥ १४ ॥ तां बृहस्पतिरांगिरसोऽधोक् तां ब्रह्म च तपश्चाऽधोक् ॥ १५ ॥ तत् ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उपजीवन्ति ब्रह्मवर्चसी उपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

अर्थ-वह आगे चली वह सप्तर्षियों के निकट आई । उस को सप्तर्षियों ने बुलाया है ब्रह्मण्वती=वेदविद्या आओ । सोम राजा उस का वत्स था और पात्र छन्द था । उस को आंगिरस बृहस्पति ने दूहा । उस ने उस से ब्रह्म और तप को ही दूहा ॥ १५ ॥ उस ब्रह्म और तप के आश्रित सप्तऋषि जीते हैं जो ऐसा जानता है वह ब्रह्मवर्चसी और उपजीवनीय होता है ॥ १६ ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा उपाह्वयन्त ऊर्ज एहीति ॥ १ ॥ तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥ २ ॥ तां देवः सविताऽधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥ ३ ॥ तामूर्जां देवा उपजीवन्ति उपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

वह आगे चली वह देवों के निकट आई । देवों ने उसे बुलाया है ऊर्जा आओ। इन्द्र उस का वत्स था और पात्र चमस था । उस को सविता देव ने दूहा । उस ने उस से ऊर्जा को ही दूहा ॥ ३ ॥ उस ऊर्जा के आश्रित देवगण जीते हैं जो ऐसा जानता है वह उपजीवनीय होता है ॥ ४ ॥

सोदक्रामत् सा गन्धर्वाऽप्सरस आगच्छत् तां गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥ ५ ॥ तस्याश्चित्ररथः सौर्य्यवर्चसो वत्स आसीत् पुष्करपर्णं पात्रम् ॥ ६ ॥ तां वसुरुचिः सौर्य्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव गन्धमधोक् ॥ ७ ॥ तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उपजीवन्ति पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

वह आगे चली वह गन्धर्वों और अप्सराओं के निकट आई । उस को गन्धर्वों और अप्सराओं ने बुलाया हे पुण्यगन्धा ! आओ ॥५॥ सौर्य्यवर्चस चित्ररथ उसका वत्स था और पात्र कमलपत्र था॥६॥ उसको सौर्य्यवर्चस वसुरुचि ने दूहा । उसने उससे पुण्यगन्ध ही दूहा ॥ ७ ॥ उस पुण्य गन्ध के आश्रित गन्धर्व और अप्सराएं जीती हैं । जो जानता है वह पुण्यगन्धि और उपजीवनीय होता है ॥ ८ ॥

सोदक्रामत् सेतरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति॥९॥ तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम् ॥१०॥

तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक् तां तिरोधामेवाऽधोक् ॥ ११ ॥ तां तिरोधामितरजना उपजीवन्ति तिरोधत्ते सर्वं पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

वह आगे चली वह इतरजनों के निकट आई । उस को इतरजनों ने बुलाया हे तिरोधा आओ ॥ ९ ॥ वैश्रवण कुबेर उस का वत्स था पात्र आमपत्र (कच्चापात्र) था ॥ १० ॥ उस को कावेरक रजतनाभि ने दूहा । उस ने उस से तिरोधा को ही दूहा ॥ ११ ॥ उस तिरोधा के आश्रित इतरजन जीते हैं । जो ऐसा जानता है वह सब पाप को तिरोहित अर्थात् विनष्ट करता है ॥ १२ ॥

सोदक्रामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति॥१३॥ तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स आसीदलाबुपात्रं पात्रम् ॥ १४ ॥ तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक् तां विषमेवाऽधोक् ॥ १५ ॥ तद्विषं सर्पा उपजीवन्ति उपजीवनीयो भवति । य एवं वेद ॥१६॥

वह आगे चली वह सांपों के निकट आई । उस को सांपों ने बुलाया हे विषवती ! आओ ॥ १३ ॥ वैशालेय तक्षक उस का वह सच्चा पात्र अलाबुपात्र था ॥ १४ ॥ उस को ऐरावत धृतराष्ट्र ने दूहा उस ने उस से विष को ही दूहा ॥ १५ ॥ उस विष के आश्रित सांप जीते हैं । जो ऐसा जानता है वह उपजीवनीय होता है ॥ १६ ॥

आशय–तस्माद् विराडजायत। ऋ० १०।९०।४। यहां विराट् शब्दार्थ सूक्ष्म ब्रह्माण्ड है । "सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यतेया माहुर्वाचं कवयो विराजम्" । अथर्व । ९ । २ । ५ । यहां विराट् शब्द वाणी का विशेषण है । "विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः । विराण् मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु" । अथर्व । ९ । १० । २४ । यहां वाणी, पृथिवी आदि को विराट् कहा है प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री । अथर्व ११ । ४ । १२ । यहां प्राण विराट् कहा गया है ॥४३॥ अक्षरों का एक विराट् छन्द भी होता है । शंका होती है कि इस प्रकरण में विराट् शब्दार्थ क्या है । पूर्वापर देखने से इसका अर्थ, प्रकृति, अर्थात् स्वभाव,

स्वधर्म, स्वगुण और अन्न प्रतीत है। परन्तु विशेष करके यहां 'विराट्' शब्द अन्न वाचक है। "तस्मात् सर्वासु दिक्षु अन्नमेव दशकृतम् । सैषा विराडन्नादी तयाइदं सर्वं दृष्टम्" छान्दोग्योपनिषद् । ४ । ३ । ८ । यहां अन्न का ही नाम विराट् कहा है । जिस का जो भोजन है वही उस के लिये अन्न है । जैसे जल वृक्ष के लिये अन्न है । पृथिवी, अप्, तेज, वायु ये चारों सब का साझा अन्न हैं वही जलादि पदार्थ, निम्ब वृक्ष में जाके तिक्तत्त्व आम में मधुरत्व, गौमें दुग्ध, सर्प में विष, सज्जन में सज्जनता, दुष्ट में दुष्टता, ऋषियों में ब्रह्मज्ञान, मनुष्यों में साधारण बुद्धि, पितरों में "स्वधा" असुर में माया इत्यादि उत्पन्न करता है अर्थात् जहां २ जाता है वहां २ अपनी सत्ता को छोड़ उसी आकारवाला हो जाता है । इसी हेतु कहा गया है कि असुरों ने उस विराट् देवी से माया को, मनुष्योंने कृषि अर्थात् क्षेत्रकर्षणविद्या को, ऋषियों ने ब्रह्मज्ञान और तप को इस प्रकार अपने २ स्वभाव के अनुसार सब ने अपने स्वभाव को दूहा इसी प्रकार पितरों ने "स्वधा" को दूहा । अब यहां आप समझ सकते हैं कि, मानो, असुरों का अन्न ही माया है मनुष्यों का अन्न ही कृषि है एवं ऋषियों का अन्न तप और ब्रह्म है इसी प्रकार पितरों का अन्न "स्वधा" है जैसे असुरगण माया से मनुष्य कृषि से ऋषि तप से जीते हैं वैसे ही पितर स्वधा से जीते है जैसे ऋषियों के निकट जाके वही अन्न तप बन गया वैसे ही पितरों के समीप आके वही अन्न स्वधा बन गया । फलित यह हुआ है कि पितरों का स्वभाव ही स्वधामय है जैसे ऋषियों का ब्रह्ममय असुरों का मायामय है । फिर शङ्का रह गई कि जैसे ऋषियों का अन्न तप अर्थात् सत्यादिभाषण है असुरों का अन्न माया अर्थात् छलकपटादि करना है वैसे ही पितरों का अन्न स्वधा है इस का क्या तात्पर्य्य हुआ । निःसन्देह स्वधा का अर्थ स्वधारण शक्ति है अपने कुल परिवार देशादिकों की जो रक्षा करनी है यही पितरों का अन्न है इसीसे पितर जीते हैं इतने से स्वधा शब्द का अर्थ अब विस्पष्ट हो गया है । अब आप लोग समझ सकते हैं कि पितरों के साथ स्वधा क्यों लगाया जाता है यह पितरों की पदवी है जहां पितर इकट्ठे हुए वहां पितरों को प्रसन्न करने के लिये इस शब्द की घोषणा होने लगी पितृगण अपने कर्तव्य सुन प्रसन्न हुए । आगे के लोग भी चेत गए कि मैं भी यदि ऐसा कर्म्म करूंगा तो पितर होऊंगा

और इसी प्रकार आदर सम्मान होगा अतः पितरों का प्रत्येक कार्य्य स्वधा से आरम्भ होता है और वेद से लेके आधुनिक संस्कृत ग्रन्थ पर्य्यन्त इस की इतनी प्रशंसा है।

प्रकरणस्थ अन्यान्य विषय—अब प्रकरण में जो अन्यान्य विषय आगए हैं उन्हें भी यहां संक्षेप से सन्देहनिवृत्यर्थ लिखता हूं। गार्हपत्यादि=वही अन्नरूपविराट् देवी गार्हपत्यादि अग्नि में आहुत भस्म हो सब प्राणी का पुनः अन्न बनती है अतः कहा गया है कि गार्हपत्यादिकों में प्रविष्ट हुई। इसी देवी को देव और मनुष्यों ने ऊर्जा, स्वधा, सूनृता और ऐरावती इन चार नामों से पुकारा—इस का भाव पूर्ववत् है वही अन्नदेवी कहीं प्रकाशवाली होती जैसे अग्नि का अन्न मानो काष्ठ है वह काष्ठ अग्नि के साथ मिलके प्रकाश देता है ऐसा ही सर्वत्र जानना। पितरों में आ के स्वधा अर्थात् स्वधारणशक्ति बन गई। एवं वृक्षादि वर्ष २ नवीन पत्तेवाले होते हैं अतः कहा है कि वनस्पतियों के हनन करने पर वर्ष में उत्पन्न हुई। अमावास्या तिथि को पितृयज्ञ अवश्य कर्तव्य है अतः मास में उत्पन्न हुई ऐसा कहा गया है इस का भाव मासिक श्राद्धप्रकरण में देखो। आगे भी ऐसा ही विचार कर लेना।

विरोचन प्राह्लादि शब्द:—इस प्रकरण में विरोचन, मनु, वैन्य, पृथी आदि शब्द आये हैं जिससे प्रायः लोगों को सन्देह उत्पन्न हो सकता है अतः प्रथम जानना चाहिये कि "श्रुति सामान्यमात्रम्" मीमांसाशास्त्र निर्णय करता है कि वेदमें सामान्य नाम है विशेष नहीं बारम्बार मैंने यह कहा है। **विरोचन**=जिसमें रोचन अर्थात् दीप्ति, तेज, प्रभा विगत हो अर्थात् न हो उसे "विरोचन" कहते हैं जो बहुत क्रन्दन=चिल्लाहट मचावे वह प्राह्राद। चूंकि असुरों में अधर्म करने से तेज नहीं रहता और रात्रि में वे चोरी डकैती आदि कुकर्म सिद्ध करने के लिये अथवा मूर्खता के कारण बहुत चिल्लाते हैं जैसे आजकल भी कोल भील रात को गीत भजन करते हुए इतने जोर से हल्ला मचाते हैं कि लोगों का सोना भी मुश्किल हो जाता है गवर्नमेण्ट को इसके लिये बन्दोबस्त करना पड़ता है इसहेतु वे विरोचन आदि नाम से पुकारे जाते हैं। मनु=मननशील पुरुष, वेन=ज्ञानी, पृथी=पृथिवी पर कृषिविद्या के प्रचार करनेवाला इसी प्रा-

लङ्कारिक कथा को ले के पुराणों में वेन और पृथु की कथा बनाली है यहां ये सामान्य नाम हैं । इन्द्र, विद्युत् आदि ।

चित्ररथ=गन्धर्व गानेवाले को कहते हैं । गानेवाले का स्वभाव ही चित्र विचित्र होता है इनके वस्त्रादिक भी अनेक प्रकार के होते हैं और ये धन को बहुत चाहते हैं अतः चित्ररथ, वसुरुचि आदि नाम से ये पुकारे गये हैं । तक्षक=सर्प विषधर होता है और अपने विषमय राज्य को सदा स्थिर रखता है अतः ये तक्षक और धृतराष्ट्र नाम से उक्त हैं ।

पितर और यम आदि—पितरों के साथ यम अर्थात् धर्म या मृत्यु सदा रहता है और धर्म्म का रूप श्वेत कहा गया है अतः पितरों का पात्र रजत कहा है इत्यादि भाव जानना ।

हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ। तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्म्मणे कं स्वधयाऽपप्रथन्त । नि० ७ । २५ ॥

शुक्रन्ते अन्यद् यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि । विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ॥ निरु० १२ । १७ ॥

इत्यादि स्थानों में अन्यान्य देवों के साथ भी स्वधा शब्दार्थ यास्क अन्न करते हैं।

परिणाम—अब स्वधा शब्द पर मैंने बहुत लिखा आगे भी स्वधा शब्द आवेगा । इससे सिद्ध हुआ कि स्वधा कोई मूर्त्तिमती देवी नहीं और न तो यह ब्रह्मा की और न दक्ष की कोई कन्या ही स्वधा है और न पितरों की धर्म्मपत्नी स्वधा है । वेद के अनुसार अन्न, जल, शरदृऋतु, प्रकृति, स्वभाव, धर्म, गुण, मार्ग, निज धारण पोषणकर्त्ता इत्यादि अर्थों में स्वधा शब्द प्रयुक्त होता है अतएव जैसे स्वधा कोई शाश्वती, आकल्पान्तस्थायिनी देवी सिद्ध नहीं होती है, वैसे ही इसके पति—अग्निष्वात्त, अग्निदग्ध, सोमप, आज्यप, नान्दीमुख इत्यादि पितृगण भी कोई शाश्वत, नित्य

आकल्पान्तस्थायी देव सिद्ध नहीं होते हैं । इस कारण पुराणों का जो सूर्यचन्द्रादि देववत् सृष्टि की आदि में अग्निष्वात्त, सोमप आदि पितृगण सृष्ट हुए और सूर्यादिदेव के समान ये अग्निष्वात्तादि पितृगण प्रलयतक समानरूप से विद्यमान रहते हैं इन के लिये लोक भी पृथक् बना हुआ है उन्हीं पितृलोक में मनुष्य पितरों को पहुंचाते हैं इत्यादि मन्तव्य है यह सब मिथ्या है। एवं जैसे श्राद्ध का जो स्वधारूप मुख्य अङ्ग है वह काल्पनिक और सर्वथा वेदविरुद्ध सिद्ध होता है वैसे ही मृतक श्राद्ध को भी जानो। अब थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि अग्निष्वात्त आदि पितृगण कोई नित्य पितृगण है जिनकी पत्नी स्वधा है। इस अवस्था में एक अन्य आपत्ति आती है जो पुराणों के अनुसार दुर्वार है। मनुष्य पितरों के साथ तब यह "स्वधा" क्यों जोड़ी जाती है। यदि कहो कि यह अन्य कोई स्वधा है तो यह कहना नहीं बन सकता है इसी अग्निष्वात्तादिक पितृगण की स्वधा की श्राद्ध में पूजा विहित है ऐसा पूर्व में दिखला चुका हूं। इत्यादि कारणवश मृतकश्राद्ध वेदविरुद्ध होने से मंगलाभिलाषी वैदिक पुरुषों को सर्वथा हेय है।

इति स्वधानिर्णयप्रकरणं समाप्तम् ॥

"यम कौन है?" इत्यादि ॥

इस श्राद्ध-निर्णय प्रकरण में "यम" शब्द भी आवश्यक है क्योंकि 'यम' पितरों के अधिपति माने गये हैं। यमपुरी में चित्रगुप्त आदि पुरुष मनुष्यों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य पर विचार करते हैं। इस शरीर को छोड़ ये जीव यमपुरी को जाते हैं। वहां इनके धर्माधर्म का निर्णय होता है इत्यादि पुराणों का मत है। अतः यम के विषय में भी विचार होना आवश्यक है। यह सर्वत्र प्रसिद्ध है और आगे प्रमाणों से भी सिद्ध किया जायगा कि विद्वान् लोग **यम** को **सूर्य्यपुत्र** कहते हैं। अब अपनी २ बुद्धि से विवेक करना चाहिये कि सूर्य्य के पुत्र से क्या तात्पर्य्य हो सकता। सूर्य्य कोई मनुष्यादिकों के समान चेतन नहीं जो उस का कोई चेतन पुत्र हो और जो पुत्र पितृपति

[illegible] धर्माधर्म का निर्णय करें ॥ निःसन्देह, सूर्य भी पृथिवी, [illegible] वायु आदि के समान एक तेजोमय जड़ वस्तु है जो इस पृथिवी पर उष्णता और प्रकाश [illegible] के लिये ईश्वर से स्थापित हुआ है । तब इसका पुत्र कौन होगा ? निःसन्देह सूर्य का पुत्र दिन और रात्रि है । वा इस को समय, काल, (Time) वक्त आदि शब्दों से पुकार सकते हैं । अमरकोश में "कालो दण्डधरः श्राद्धदेवो वैवस्वतोऽन्तकः" काल अर्थात् समय (Time) और वैवस्वत अर्थात् सूर्य्यपुत्र ये दो नाम भी यम के आये हैं इस से सिद्ध है कि यम नाम दिन (Day) का और यमी नाम रात्रि (Night) का है । इस बात में सब ग्रन्थ सहमत हैं कि यम और यमी सूर्य के पुत्र और पुत्री हैं । यथा—

यम और पुराण ॥

विवस्वतः श्राद्धदेवं संज्ञाऽसूयत वै मनुम् । मिथुनञ्च महाभागा यमं देवं यमीं तथा ॥ सैव भूत्वाऽथ वडवा नासत्यौ सुषुवे भुवि ॥

श्रीमद्भागवत ६ । ६ । ४० ॥

अर्थ—सूर्य्यपत्नी संज्ञा ने सूर्य्य से श्राद्धदेव मनु को और उसी महाभाग्यवती ने यम और यमी को भी उत्पन्न किया । पुनः वडवा अश्वा (घोड़ी) होकर पृथिवी पर दो अश्वी कुमार भी उत्पन्न किये । इस को अष्टम स्कन्ध में विस्पष्टरूप से वर्णन करते हैं । यथा—

विवस्वतश्च द्वे जाये विश्वकर्म्मसुते उभे । संज्ञा छाया च राजेन्द्र ! ये प्रागभिहिते तव । तृतीयां वडवामेके तासां संज्ञासुतास्त्रयः । यमो यमी श्राद्धदेवश्छायायाश्च सुतान् शृणु ॥

अर्थ—सूर्य्य की दो भार्याएं थीं वे दोनों विश्वकर्मा की कन्याएं [illegible] उन दोनों के नाम क्रम से संज्ञा और छाया थे । कोई यह भी कहते हैं कि [illegible] (तीसरी) भी स्त्री थी । जिस का नाम वडवा थी । इन में से संज्ञा के तीन पुत्र हुए यम यमी और श्राद्धदेव मनु । इत्यादि । [illegible] प्रमाणों से सिद्ध है कि यम और यमी [illegible] हैं ॥ [illegible]

[illegible] (घोड़ी) इस का क्या तात्पर्य है और कहां से यह कथा आई है इस को आगे वर्णन करेंगे ।

सूर्य्यस्य पत्नी संज्ञाऽभूत् तनया विश्वकर्म्मणः । मनुर्यमो यमी चैव तदपत्यानि वै मुने॥ असहन्ती तु सा भर्तुस्तेजश्छायां युयोज वै। भर्तुः शुश्रूषणेऽरण्यं स्वयञ्च तपसे ययौ ॥ छाया संज्ञा ददौ शापं यमाय कुपिता यदा । तदान्येयमसौ बुद्धिरित्यासीद् यमसूर्य्ययोः ॥ ततो विवस्वानाख्याते तयैवारण्यसंस्थिताम् । वाजिरूपधरः सोऽपि तस्यां देवावथाश्विनौ॥ इत्यादि विष्णुपुराण तृतीयांश द्वितीयाध्याय॥

अर्थ—सूर्य्य की पत्नी का नाम संज्ञा था जो विश्वकर्मा की पुत्री थी । उस संज्ञा से मनु, यम और यमी तीन सन्तान हुए । एक समय वह संज्ञा सूर्य्य के तेज को न सह के पति शुश्रूषा के लिये अपने स्थान में एक छायारूपी स्त्री बना तपस्या के लिये अरण्य को चली गई। तत्पश्चात् एक दिन उस छाया ने अपने पुत्र यम को शाप दिया। यह चरित्र देख यम और सूर्य्य को मालूम हुआ कि यह संज्ञा नहीं है तब पूछने पर उस ने सब कह सुनाया । तब सूर्य्य भी अश्वरूप धारण कर अरण्य में अश्वारूप से तपस्या करती हुई संज्ञा से जा मिले वहां दो अश्वीकुमार उत्पन्न हुए ।

इस में भी श्रीमद्भागवत के समान आख्यायिका है । विशेष इतना है कि संज्ञा ने ही छाया को उत्पन्न किया और वही अश्वा (घोड़ी) रूप धारण करके अरण्य को चली गई वहां दोनों के योग से अश्विनी कुमार हुए । पद्मपुराण में विस्तार से वर्णन है सो सुनिये—

विवस्वान् कश्यपात्पूर्वमदित्यामभवत्सुतः । तस्य पत्नीत्रयं तद्वत् संज्ञा राज्ञी प्रभा तथा ॥ प्रभा प्रभातं सुषुवे त्वाष्ट्री संज्ञा तथा मनुम् । यमश्च यमुना चैव यमलौ तु बभूवतुः ॥ ततस्तेजोमयं रूपमसहन्ती विवस्वतः । नारीमुत्पादयामास स्वशरीरादनिन्दिताम् [illegible] [illegible]

स्थिता तामभाषत । छाये त्वं भज भर्तारं मदीयं च वरानने । अप-त्यानि मदीयानि मातृस्नेहेन पालय ॥ पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ० ८। श्लोक ३६ से पृष्ठ ७८६ ॥

अर्थ—अदिति में कश्यप से विवस्वान् पुत्र हुआ। उसकी तीन स्त्रिएं हुई। संज्ञा, राज्ञी और प्रभा। प्रभा से प्रभात अर्थात् प्रातःकाल उत्पन्न हुआ और त्वष्टा की कन्या संज्ञा ने तीन सन्तान उत्पन्न किये। मनु, यम और यमुना। यम और यमुना दोनों यमल=साथ ही उत्पन्न हुए। तब उस संज्ञा ने अपने पति विवस्वान् के तेजोमय रूप को न सहती हुई अपने शरीर से एक नारी उत्पन्न की। उस त्वाष्ट्री ने उसका नाम छाया रक्खा। वह छाया बोली कि मैं क्या करूं। उससे संज्ञा बोली कि हे छाये! मेरे स्वामी की तू सेवा कर और इन बच्चों को मातृवत् पाल।

तथेत्युक्त्वा च सा देवमगात् कामाय सुव्रता। कामयामास दे-वोऽपि संज्ञेयमिति चादरात् ॥ ४२ ॥ जनयामास सावर्णं मनुं मनुस्व-रूपिणम्। सवर्णत्वाच्च सावर्णो मनोर्वैवस्वतस्य च ॥ ४३ ॥ शनैश्चरं तु तपतीं विष्टिं चैव क्रमेण तु। छायायां जनयामास संज्ञेयमिति भास्करः ॥४४॥ छाया स्वपुत्रेऽभ्यधिकं मनश्चक्रे मनौ तदा। पूर्वो मनुस्तच-क्षमे यमस्तु क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४५ ॥ तां तर्जयामास तदा पादमुत्क्षि-प्य दक्षिणम्। शशाप च यमं छाया सव्रणः कृमिसंयुतः ॥ ४६ ॥ इत्यादि ॥ तपःप्रभावाद्देवेशः संतुष्टः पद्मसंभवः। वव्रे स लोकपाल-त्वं पितृलोकं तथाऽक्षयम् ॥ धर्म्माधर्म्मात्मकस्यास्य जगतस्तु परीक्ष-णम्। एवं स लोकपालत्वमगमत् पद्मसम्भवात् ॥ पितॄणामाधिपत्यञ्च धर्म्माधर्म्मस्य चानघ। विवस्वानथ तज्ज्ञात्वा संज्ञायाः कर्म्मचेष्टि-तम् ॥ इत्यादि सृष्टिखण्डाध्याये ॥ ८ ॥

छाया एवमस्तु कह सूर्य देव की सेवा करने लगी। सूर्यदेव भी उसे संज्ञा ही मान आदर विनोद करने लगे उस से दूसरा मनु, शनैश्चर, तपती और विष्टी उत्पन्न

हुई। वह छाया अपने पुत्र द्वितीय मनु में अधिक प्रेम रखती थी यह देख एक दिवस यम बड़े क्रुद्ध हुए और माता को मारा भी। माता ने उसे शाप दिया। यह लीला देख सूर्य्य ने यह समझा कि यह यममाता संज्ञा नहीं है क्योंकि अपने पुत्र को कोई माता शाप नहीं देती। इस शाप के अनन्तर यम तपस्या करने लगे। ब्रह्माजी प्रसन्न हो बोले कि हे पुत्र! वर मांग। यम ने वर मांगा कि मैं लोकपाल होऊं। अक्षय पितृलोक मुझे मिले। धर्म्माधर्म्मात्मक इस जगत् का मैं निरीक्षक होऊं। इस प्रकार ब्रह्मा की कृपा से वह यम—लोकपाल, पितरों का अधिपति, धर्म्माधर्म्म का निर्णायक हुए। इसके बाद पद्मपुराण कहता है कि सूर्य्य ने अपने श्वसुर त्वष्टा के गृहपर जा सब वृत्तान्त कह सुनाया पश्चात् त्वष्टा ने सूर्य्य को चाक पर बैठा कुछ तेज कम करके संज्ञा को साथ लगा दिया। इत्यादि इस में बहुतसी बातें अनर्गल और असम्बद्ध हैं। यमी के स्थान में यमुना का कथन, यम को शाप देना, द्वितीय मनु की उत्पत्ति, तीसरी स्त्री का नाम राज्ञी रखना आदि। परन्तु इसमें यह भी सहमत है कि सूर्य्य का ही पुत्र यम है और यही यम धर्म्माधर्म्म का स्वामी और पितरों का अधिपति है।

यम और वेद।

परन्तु यह सब कथाएं कहां से निकलीं और यथार्थ भाव इस का क्या है। यह निरूपण अब वेद से करते हैं आप लोग ध्यान से श्रवण करें।

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥
ऋग्वेद १०। १७। १॥

(त्वष्टा) प्रकृतिदेव (दुहित्रे) दुहिता अर्थात् कन्या का (वहतुम्+कृणोति) विवाह करता है (इति) इस कारण (विश्वं+भुवनम्) समस्त भुवन (समेति) इकट्ठा होता है। पश्चात् (पर्युह्यमाना) सूर्य्य से विवाहिता होने पर (यमस्य+माता) वह त्वष्टा की कन्या, यम अर्थात् यमल (जो दो सन्तान साथ उत्पन्न होते हैं उसे यम कहते हैं) सन्तान की माता अर्थात् निर्माण करने वाली हुई और यमु को उत्पन्न कर वह (महः+

विवस्वतः+जाया) महान् विवस्वान् की जाया अर्थात् पत्नी (ननाश) नेत्र से बाहिर छिप गई । पुनः—

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामदर्दुर्विवस्वते ।

उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहा दु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥

ऋग्वेद १० । १७ । २ ॥

देवगण (मर्त्येभ्यः) मनुष्यों से (अमृताम्) अमृता अर्थात् सरण्यू को (अपागूहन्) छिपा लेते हैं और उस की जगह में (सवर्णाम्+कृत्वी) सवर्णा को बना (विवस्वते) सूर्य को (अददुः) देते हैं (उत) और (सरण्यूः) वह सरण्यू (अश्विनौ) दो अश्वी कुमारों को (अभरत्) उत्पन्न करती है । (यद्) जब (तत्+आसीत) वह सरण्यू भाग जाती है तब (द्वा+उ× मिथुना) दो मिथुन (एक जोड़ी) (अजहात्) छोड़ जाती है ।

ये ही दो मुख्य ऋचाएं हैं जिससे सम्पूर्ण आख्यायिका निकलती है इस का आशय आगे यास्काचार्य के प्रमाण से लिखा जायगा प्रथम सायणाचार्य्य इस की भूमिका में जो लिखते हैं सो सुनिये ।

अत्रेतिहासमाचक्षते । त्वष्टृनामकस्य देवस्य सरण्यूस्त्रिशिराश्चेति स्त्रीपुंसात्मकमपत्यमभूत् । ततस्त्वष्टा सरण्यूनामिकां पुत्रीं विवस्वते प्रायच्छत् । ततस्तस्यां विवस्वतः सकाशात् यमयमौ मिजज्ञाते । ततः कदाचिदात्मसदृश्या देवजनितायाः स्त्रियः समीपे तदपत्यद्वयं निधाय स्वयमाश्वरूपं कृत्वा उत्तरान् कुरून् प्रति जगाम । अथ विवस्वानिमां स्त्रियं सरण्यूमिति मन्वानोऽरंसीत् । तस्यां मनुर्नाम राजर्षिरजायत । ततो विवस्वानेषा सरण्यूर्न भवतीति विज्ञाय स्वयमप्यश्वो भूत्वा तामश्वरूपिणीं प्रायासीत् । ततः संक्रीडमानयोस्तयोः संभूतं रेतः पृथिव्यां पपात । अथ सा गर्भकामनया तत्पतितं रेत आजघ्रौ । ततः तस्याः सकाशात् नासत्यो दस्रश्चेत्युभावश्विनावजायेतामिति ।

...इस को इतिहास कहते हैं। त्वष्टा नामक देव को एक कन्या सरण्यू और एक पुत्र त्रिशिरा हुआ। पश्चात् त्वष्टा ने सरण्यू नाम की पुत्री विवस्वान् को दी। उस में सूर्य्य से यम और यमी भाई बहिन उत्पन्न हुए। कभी सरण्यू के समान ही एक अन्य स्त्री को देवों ने उत्पन्न किया उसके समीप अपने दोनों सन्तान रख अश्वरूप बन वह सरण्यू उत्तर कुरु को चली गई। वह विवस्वान् इस को ही सरण्यू मान उस में प्रेम करने लगा। उससे मनु राजर्षि उत्पन्न हुआ। तब सूर्य्य "यह सरण्यू नहीं है" यह जान स्वयं भी अश्वरूप बन सरण्यू के निकट चला गया। तब दोनों का क्रीड़ा करते हुए पृथिवी पर रेत पतित हुआ वह सरण्यू गर्भ की इच्छा से उस पतित रेत को सूंघने लगी तब उस से नासत्य और दस्र ये दो अश्वी उत्पन्न हुए। बृहद्देवता में श्लोकबद्ध यह आख्यायिका है यथाः—

अभवन् मिथुनं त्वष्टुः सरण्यूस्त्रिशिराश्च ह। अ० १ श्लोक १६२॥ स वै सरण्यूं प्रायच्छत् स्वयमेव विवस्वते। ततः सरण्वां जज्ञाते यमयम्यौ विवस्वतः। तौ चाप्युभौ यमौ स्यातां ज्यायांस्ताभ्यां तु वै यमः ॥ ६। ११ ॥ दृष्ट्वा भर्तुः परोक्षन्तु सरण्यूः सदृशीं स्त्रियम्। निक्षिप्य तद्युगं तस्यामश्वा भूत्वापचक्रमे ॥ अविज्ञानाद्विवस्वांस्तु तस्यामजनयन्मनुम्। राजर्षिरभवद् सोऽपि विवस्वानिव तेजसा ७। २ ॥ स विज्ञाय त्वपक्रान्तां सरण्यूमश्वरूपिणीम्। त्वाष्ट्रीं प्रतिजगामाशु वाजी भूत्वाऽश्वलक्षणः। ७। ३। सरण्यूश्च विवस्वन्तं विदित्वा हयरूपिणम्। मैथुनायोपचक्राम तां चाश्वामारुरोह सः ॥ ७। ४ ॥ ततस्तयोस्तु वेगेन शुक्रं तदपतद् भुवि। उपाजिघ्रति सात्वश्वा तच्छुक्रं गर्भकाम्यया ॥ ७। ५ ॥ आघ्रातमात्राच्छुक्रात्तु कुमारौ संबभूवतुः। नासत्यश्चैव दस्रश्च यौ तु तावश्विनाविति ॥ ७। ६ ॥

पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों पर जो यास्काचार्य्य का लेख है जिस से आशय भी प्रतीत होगा वह यह है।

" अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः " इस ऋचा के ऊपर कहते हैं यथा—

यमश्च यमीञ्चेत्यैतिहासिकाः। तत्रेतिहासमाचक्षते। त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद् यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार। सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधाय आश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव। स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य संबभूव। ततोऽश्विनौ जज्ञाते सवर्णायां मनुः॥

ऋचा में जो एक मिथुन अर्थात् जोड़े की चर्चा आई है इस के भाव को सूचित करने के लिये यास्क कहते हैं कि यहां पर मिथुन शब्द से ऐतिहासिक लोग यम, यमी का ग्रहण करते हैं और इस प्रकार इतिहास वर्णन करते हैं कि त्वष्टा की पुत्री—सरण्यू ने आदित्य से यम और यमी उत्पन्न किये। वह दूसरी सवर्णा को प्रतिनिधि कर भाग गई। वह विवस्वान् आदित्य भी अश्वरूप धर उस से जा मिला तब उन दोनों से दो अश्वी और सवर्णा में मनु उत्पन्न हुए।

" **त्वष्टा दुहित्रे वहतुम्** " इस ऋचा पर यास्क कहते हैं—"**रात्रिरादित्यस्य आदित्योदयेऽन्तर्धीयते** " इस की टीका दुर्गाचार्य्य करते हैं—" रात्रिरादित्यस्य उषा जाया सा आदित्योदयेऽन्तर्धीयते" अर्थात् " त्वष्टा दुहित्रे " इस मंत्र में जो यम की माता की चर्चा आई है इस का भाव क्या है ? इस पर यास्क कहते हैं कि सूर्य्य की पत्नी रात्रि अर्थात् उषा है वह उषा आदित्य के उदय होने पर अन्तर्हिता अर्थात् लुप्त होजाती है। यही इस का भाव है। यास्क के मत से यह सिद्ध है कि सरण्यू नाम उषा अर्थात् प्रातर्वेला का है और सवर्णा नाम दैनिक शोभा का है जो प्रातःकाल के अनन्तर आती है अब इन दोनों ऋचाओं का आशय इतने से ही प्रतीत हो सकता है। यद्यपि ' त्वष्टा ' यह नाम भी सूर्य्य का है क्योंकि पदार्थों के सूक्ष्म करने की जिस में शक्ति हो उसे त्वष्टा कहते हैं परन्तु यहां संसार वा पृथिवी पर के ब्राह्म मुहूर्त्त के दृश्य का नाम त्वष्टा है। इसी ब्राह्म मुहूर्त्त में उषा अर्थात् किञ्चित् प्रकाशसहिता प्रभा उत्पन्न होती है इस हेतु, मानो, यह प्रभा त्वष्टा देवकी कन्या है प्रभात होते ही पृथिवी परके सब प्राणी जाग उठते हैं यही, मानो, समस्त प्राणियों का मिलना

है । अब यह त्वष्टा अपनी कन्या–उषा को सूर्य्य से विवाह करवाता है अर्थात् किंचित्काल के लिये सूर्य्य और उषा का सम्मेलन होता है अर्थात् प्रभात का समय थोड़ीही देर तक ठहरता है । इस के बाद जब सूर्य का उदय होने लगता है तब वहां से वह उषा भाग जाती है अर्थात् जहां पर प्रथम उषा थी वहां पर अब दिन होगया इसी दिन की शोभा का नाम सवर्णा है क्योंकि सूर्य्य के समान ही इस का भी वर्ण श्वेत रंग होजाता है, मानो, इसी को वह सरण्यू (उषा) अपने स्थान में रख भाग जाती है। अथवा देव अर्थात् सूर्य्यकिरण उस उषा को तो अब दूसरी जगह लेचले और उस के स्थान में सवर्णा अर्थात् दैनिक शोभा को रख देते हैं । इस वर्णन पर यों ध्यान दीजिये । करीब दो दंड रात्रि रहने पर पृथिवी के एक भाग में प्रकाश आना आरम्भ होता है वह समय प्रकाश और अन्धकार दोनों से संयुक्त रहता है इसी के नाम सरण्यू, उषा, उर्वशी, अप्सरा, सरमा आदि वेदों में कहे गये हैं । अब थोड़ी ही देर में उषा की जगह दिन होने लगता है और वह उषा पृथिवी के दूसरे भाग में जा निकलती है । वहां थोड़ी ही देर में पुनः दिन होजाता है और वह उषा फिर आगे चली जाती है । यह प्राकृतिक दृश्य पृथिवी के गोल और घूमने के कारण प्रतिदिन हुआ करता है इस प्रकार पृथिवी के एक भाग में दिन दूसरे भाग में रात्रि एक भाग में सन्ध्या दूसरे भाग में उषा इत्यादि होता ही रहता है । इसी घटना का वर्णन ये दोनों मन्त्र करते हैं।

सरण्यूः कस्मात् सरणात् ॥ निरु० सरण नाम गमन का है (सृ गतौ) जिस हेतु उषा भाग जाती है इस कारण इस को सरण्यू वा सरमा आदि अनेक नाम दिये गये हैं और इसी कारण इस को अश्वा भी कहते हैं । "अशू व्याप्तौ" यहां केवल धात्वर्थ का ग्रहण होता है अथवा घोड़ी के समान भागती हुई प्रतीत होती है इसलिये अश्वा कहा है इस के पीछे सूर्य्य भी लगा रहता है अथवा यों कहिये कि सूर्य्य के विना सरण्यू वा उषा हो ही नहीं सकती इस हेतु इस अवस्था में सूर्य्य का भी नाम अश्व होता है । जब सरण्यू अर्थात् उषा चली जाती है तो वहां दिन होजाता है यही, मानो, सवर्णा का बनाना वा होना है सूर्य्य के समान श्वेत वर्ण होने से दैनिक शोभा-स्वरूपा देवी का नाम "सवर्णा" है मानो यह अब सूर्य्य की द्वितीय पत्नी हुई । अब वह

सरण्यू दो सन्तान उत्पन्न कर रखजाती है इसका तात्पर्य्य केवल दिन, रात्रि है क्योंकि उषा के अनन्तर दिन और रात्रि होती है इस कारण मानो ये दोनों उषा के पुत्र हैं इन को ही यम और यमी कहते हैं । अब वह सरण्यू अश्वरूपा होकर भाग जाती है और सूर्य्य भी उस के पीछे अश्वरूप होकर जा मिलते हैं । इन दोनों के संयोग से दो अश्वी पैदा होते हैं । इस का भाव यह है कि "अश्वी" यह नाम द्यावापृथिवी का है "तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येके" निरुक्त ॥ १२ । १ ॥ जहां २ उषा काल होता है वहां २ द्युलोक और पृथिवीलोक की उत्पत्ति होने लगती है अर्थात् रात्रि में अन्धकार के कारण न तो पृथिवी और न द्युलोक ही स्वच्छ दीखते हैं परन्तु ज्योंही उषा आती है त्योंही पृथिवी और आकाश अच्छे प्रकार दीखने लगते हैं यही मानो दो अश्वी की अर्थात् द्यावापृथिवी की उत्पत्ति होनी है । अश्व अर्थात् सूर्य्य और उषा उन का जो पुत्र उसे अश्वी कहते हैं पृथिवी और द्युलोक ही अश्वी हैं कोई व्यक्ति विशेष नहीं ।

अब कहा गया है कि सवर्णा में मनु उत्पन्न होता है इस का भी भाव यह है कि यहां मनु नाम मनुष्यजाति का है । जातिनिर्णय में मनु शब्द पर लेख देखो । रात्रि में मनुष्य का शयन करना ही मानो एक प्रकार से मरण है और जागृत होना ही मानो एक प्रकार से जन्म लेना है जब सवर्णा अर्थात् दिनरूपा देवी जो सूर्य्य के समान ही तेजस्विनी और समानवर्णा है, आती है तब मनुष्य जाग उठता है यही जागना मानो सवर्णा से मनु अर्थात् मनुष्यजाति का जन्म लेना है जिस कारण पृथिवी पर के सब जीवों का राजा मनुष्य ही है अतः कहा गया है कि वह मनु सब का राजा होता है । इस से यह सिद्ध हुआ कि मनु कोई खास पुरुष नहीं किन्तु मनुष्य मात्र का नाम मनु है । इसी मनु को लेकर अनेक कथाएं भिन्न २ रूप से रची गई हैं और इस को सावर्णि वैवस्वत आदि नाम दे के इसी से सूर्य्यवंश की उत्पत्ति मानी है । परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यह सब इतिहास काल्पनिक हैं । इस आलङ्कारिक कथा को पीछे सत्य मानने लगे । कैसी अविद्या फैली ।

पुराणों की संगति ।

सरण्यू और संज्ञा—हम कह चुके हैं कि उषा के ही नाम वेदों में सरण्यू सरमा उर्वशी आदि आए हैं । पुराणों में इसी को संज्ञा कहा है क्योंकि रात्रि में सो जाने के कारण मानो संज्ञा अर्थात् चेष्टा अथवा बोध नष्ट होजाती है उषा काल आते ही सब जीव मानो संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं इस हेतु पुराणों में इसी उषा का नाम संज्ञा रक्खा है । **छाया और सवर्णा**—यह अपने स्थान में छाया को छोड़ जाती है इस का भाव यह है कि संज्ञा (उषा) के बाद दिनरूपा देवी आती है मानो वह संज्ञा की छाया है इस कारण इस को छाया कहा है और उषा के पश्चात् सूर्य्यसमान ही दिन की शोभा होती है इस कारण वेद ब्राह्मणादि ग्रन्थों में इस को सवर्णा कहा है । इस प्रकार छाया और सवर्णा दोनों एक ही हैं ।

अब क्या वेद क्या पुराण सब से यही सिद्ध हुआ कि यम सूर्य्य का पुत्र है और यास्काचार्य्यादिकों के व्याख्यान से यह भी सिद्ध हुआ कि यह आलङ्कारिक वर्णन है यथार्थ में न कोई सूर्य्य की पुत्री और न कोई पुत्र है किन्तु सूर्य्य और पृथिवी के योग से यह सब लीला होती रहती है इस हेतु लौकिक-सम्बन्धवत् वर्णन किया गया है । यास्काचार्य्य ने विस्पष्टरूप से दिखला दिया कि उषा ही, मानो, सूर्य्य की पत्नी है और उदय होने पर मानो, वही भाग जाती है और यही उषा मानो दिन और रात्रिरूपा काल सृजन करती रहती है । अब थोड़ी भी बुद्धि रखने वाला पुरुष समझ सकता है कि इस वर्णन का यथार्थ में क्या आशय है । क्या कोई अज्ञानी पुरुष भी कह सकता है कि मानुषीवत् यह उषा (प्रातःकाल) भी कोई चेतनावती मूर्तिमती देवी है । क्या यह सवर्णा (दैनिकशोभा) कोई सचमुच नारी है क्या यह दिन और रात्रि यथार्थ में कोई रूपवान् चेतन देव देवी है ? अज्ञानी भी ऐसा नहीं कह सकता है । एवं मैं पूर्व में यह भी कह चुका हूं कि पुराण प्रायः सब विषय को आख्यायिका रूप में वर्णन करते हैं जैसे धर्मकी १२ पत्नियोंका वर्णन अग्निकी स्त्री स्वाहा का कथन इत्यादि अतः सूर्य्य का पुत्र यम है इसका भी भाव यही मानना पड़ेगा कि यह अहोरात्ररूप-

उपाधिवाला जो अखण्ड काल है यही सूर्य्य का पुत्र है क्योंकि सूर्य्य के कारण ही हमें यह अहोरात्र–रूप काल ज्ञात होता है और इसी की गणना से पल, दण्ड, प्रहर, अहोरात्र, मास वर्ष, आदि की प्रतीति होती है और इन्हीं अहोरात्र रूप काल से प्राणियों की आयु मापी जाती है हम देखते हैं कि किसी की आयु १ वर्ष किसी की १०० वर्ष किसी की १००० वर्ष है। इसी काल के बीच में रह के जीव मरते जीते रहते हैं इस हेतु, मानो, यह यम=अहोरात्र ही सब को मार रहा है जिला रहा है इसी के नाम मृत्यु, अन्तक, दण्डधर आदि हैं। मारता है अतः मृत्यु, "मारयतीति" अन्त अर्थात् विनाश करता है अतः अन्तक " अन्तयतीति" इसी के अधीन रहके सब कोई कर्म्मफल पा रहे हैं अतः दण्डधर इत्यादि जानना इससे सिद्ध हुआ कि यम किसी चेतन और शरीरधारी व्यक्ति का नाम नहीं। अहोरात्ररूप काल ही यम है। जब यम ही कोई चेतन व्यक्ति क्या पुराणों क्या वेदों से सिद्ध नहीं होसका तब कब सम्भव है कि उस के दूत लेखक चित्रगुप्त आदि चेतन सिद्ध हो सकें और उस की पुरी नगरी और लोक की सिद्धि हो। वेदों की एक साधारण स्वाभाविक उपमा के द्वारा कितनी बातें बनाई गईं और आगे चलके कैसी दुर्बोध होगईं कि कहा नहीं जाता।

यम और वैवस्वत-जिस कारण आलङ्कारिक अथवा रूपक वर्णन द्वारा कहा गया है कि यम का पिता विवस्वान् और माता सरण्यू है अतः वेदों में यम के लिये वैवस्वत पद भी बहुधा आते हैं " विवस्वतोऽपत्यं वैवस्वतः" यथाः—

वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्यत॥१०।१४।१॥

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकं ॥ १० । ५८ । १॥

इन मन्त्रों के आगे अर्थ किये जायंगे। एक स्थल में यम को संबोधन करके कहागया है कि आप के पिता विवस्वान् को भी आदर करते हैं यथा:—

आङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिहमादयस्व।

विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्यानिषद्य ॥१०।१४।५॥

ऐसे २ ही वैदिक अलङ्कारको न समझके लोगों को भ्रम उत्पन्न हुआ और हो रहा है। लोग समझने लगे कि यम भी कोई चेतन देव है जिस के लिये प्रार्थना स्तुति प्रभृति कही गई हैं। एवमस्तु इन अलङ्कारोंका आगेभी यथाशक्ति वर्णन किया जायगा।

यम शब्दार्थ धर्म्म और मृत्यु कैसे ?

यह समझना अब कुछ कठिन नहीं है प्रथम तो धर्म्म भी अपने वश में लोगों को स्थित रखता है इसलिये धर्म्म का नाम ही यम है। दूसरी बात यह है कि सूर्य भगवान् हम प्राणियों को मुख्यतया मृत्यु और धर्म दो पदार्थ देते हैं। एक तो, उनके उदय से प्राणी घटते बढ़ते और अन्त में मरजाते हैं अर्थात् मृत्यु का भी कारण सूर्य देव ही हैं अतः प्राचीन ग्रंथों में मृत्यु के कारण होने से स्वयं सूर्य मृत्यु कहे गए हैं। दूसरा, सूर्य के उदय होने पर ही हम धर्मकार्य आरम्भ करते हैं अथवा यों कहिये कि ज्योति के विना हम जीव कोई कार्य्यानुष्ठान ही नहीं कर सकते रात्रि में सूर्य के प्रतिनिधि अग्निदेव को स्थापित करके ही कुछ कार्य कर सकते हैं। अतः सूर्य के विना अर्थात् ज्योति के विना हमारा धर्मकार्य सिद्ध नहीं हो सकता अतः सूर्य को साक्षात् धर्म्म स्वरूप, धर्म्मफल, धर्म्मस्थान पुण्यात्माओं का निवासस्थान इत्यादि मानते हैं। अतः सूर्य से उत्पन्न अहोरात्ररूप उपाधियुक्त यह यम अर्थात् अखण्ड काल भी धर्म्म और मृत्यु इन दोनों के मुख्य कारण होने से धर्म्म और मृत्यु नाम से पुकारे जाते हैं इस प्रकार वेदों में यह यम शब्द धर्म्म और मृत्युवाचक होता है अथवा यम साक्षात् सूर्य का नाम भी है आगे उदाहरण देंगे और सूर्य मृत्यु नाम से कई जगह पुकारा गया है इस कारण यम शब्द मृत्युवाचक है इस प्रकार यम को धर्म्म वा धर्म्मराज आदि शब्दों से पुकारने लगे "धर्म्मराजः पितृपतिः"।

वैवस्वत यम शब्दार्थ ईश्वर कैसे ?

"यमं मातरिश्वानमाहुः" इत्यादि प्रमाणों से यम शब्दार्थ ईश्वर भी है इसमें अणुमात्र संदेह नहीं परन्तु वैवस्वत विशेषण के साथ यम शब्दार्थ ईश्वर कैसे ? निघण्टु में विवस्वान् यह नाम मनुष्य का है "विवस्वतां मनुष्याणां हित इति वैवस्वतः"

जो मनुष्यों का हितकारी हो वह वैवस्वत है। भेद की विलक्षणता यहां यह है कि प्रायः यम शब्द के साथ सूर्यवाचक अन्यान्य शब्द न रहके विवस्वान् शब्द का ही प्रयोग रहेगा। भाव यह है कि वेदों में सूर्य के आदित्य, भग, अर्य्यमा, धाता, सविता, इन्द्र, विष्णु, विवस्वान् आदि अनेक नाम हैं परन्तु अन्यान्य किसी शब्द के साथ सम्बन्ध न रख के केवल विवस्वान शब्द से सम्बन्ध यम शब्द का है इसका क्या कारण ? सूर्यवाचक शब्दों में से एक विवस्वान् शब्द ही प्रायः मनुष्यवाचक है अतः दोनों अर्थ सूचित करने के हेतु प्रायः वैवस्वत पद आता है जब यम शब्दार्थ काल होगा तब विवस्वान् का अर्थ सूर्य, जब यम शब्दार्थ ईश्वर तब विवस्वान् का अर्थ मनुष्य होगा इसी प्रकार प्रत्ययार्थ में भी भेद होगा। अथवा "विवसति सर्वत्रैव निवसतीति वैवस्वतः" इत्यादि अर्थ का भी अनुसन्धान करना। "यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः" मनु० ८। ९२ ॥ यहां कुल्लूक वैवस्वत यमशब्दार्थ परमात्मा करते हैं।

यम-शब्दार्थ न्यायाधीश सभापति आदि कैसे ?

अब यह भी समझना कुछ कठिन नहीं। यह अहोरात्र-रूप यम अपने नियम से ऋतु आदिको उत्पन्न करता है क्या राजा क्या प्रजा क्या विद्वान् क्या मूर्ख सब को समान रूप से संहार करता है। इसकी दया है तो सब पर तुल्य, यदि क्रूरता है तो सब पर समान, अतः इस यम के समान जो न्याय करता समान दृष्टि से देखता ऐसा परमन्यायी पुरुष सभापति सभाधीश आदि यम नाम से पुकारे जाते हैं। अथवा न्यायाधीश सभापति आदि अपने नियम में अहोरात्ररूपवत् सब को चलाते हैं इसलिये भी यम कहलाते हैं। इत्यादि।

"यम और नित्य विभु महाकाल" ॥

परन्तु आगे देखते हैं कि विवस्वान् के पुत्र होने पर भी यम को विवस्वान् से उत्कृष्ट बतलाते हैं इससे प्रतीत होता है कि वेदका तात्पर्य नित्य विभु काल से भी है। केवल अहोरात्रात्मक अनित्य काल से ही नहीं। यथा:—

यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किञ्चन । यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान।अ०१८।२।३२

(यमः+परः) यम उत्कृष्ट है परन्तु (विवस्वान्+अवरः) सूर्य्य यम की अपेक्षा न्यून है (अतः+परम्) इससे परे किसी को मैं नहीं देखता (यमे+मे+अध्वरः+अधि+निविष्टः) यम में मेरा याग अधिनिविष्ट है (विवस्वान्+भुवः+अनु+आततान) सूर्य्य, द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और भूलोक को आनुपूर्विक प्रकाशित करता है ।

यहां देखते हैं कि सूर्य्यदेव से भी श्रेष्ठ उत्कृष्ट यमदेव कहा गया है । ठीक है । काल अखण्ड है । सूर्य्य के अभाव में भी काल विद्यमान ही रहता है । हां, सूर्य्य केवल घड़ी के समान काल को विभक्त करता है । सूर्य्य चन्द्रादि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक समय विनष्ट हो जाता है । परन्तु यह महाकाल सदा एक रस स्थित रहता है इसी हेतु काल को नित्य विभु माना है । यहां साफ प्रतीत होता है कि वेद केवल इसी अहोरात्रात्मक काल की ही शिक्षा नहीं देता किन्तु इससे भी परे नित्य विभु महाकाल को भी सूचित करता है जो न तो देवों को और न मर्त्यों को छोड़ता है अतएव ऋग्वेद में भगवान् दिखलाते हैं यथाः—

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत । बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत् ॥१०।१३।४

अर्थ—हे मनुष्यो ! वह यम (देवेभ्यः) सूर्य चन्द्रादि देव गणों के लिये (कम्+मृत्युम्) किस मृत्यु को (अवृणीत) चुनता है और (प्रजायै) प्रजा के अर्थात् उत्पत्तिमान् प्राणियों के लिये (कम्+अमृतम्) किस अमृत दूत को (न+अवृणीत) नहीं चुनता है किन्तु (यमः) वह न्यायकारी महाकाल-स्वरूप देव सब की (प्रियाम्+तन्वम्+प्र+अरिरेचीत्) प्रिय तनु को जीवात्मा से अच्छे प्रकार रिक्त=शून्य कर देता है अतएव इस अनित्यता को देख मर्त्यगण (बृहस्पतिम्) सबों के अधिपति (ऋषिम्) परमज्ञानी सर्व-व्यापी (यज्ञम्) यजनीय परमात्मदेव को ही (अकृण्वत) प्रेम से सेवा करते हैं ।

भाव इसका यह है कि यह अखण्डकाल क्या देवों क्या मनुष्योंको एक न एक दिन सब का संहार करता है। इस हेतु यम शब्दार्थ केवल अहोरात्र ही नहीं किन्तु नित्य विभु महाकाल भी है। यदि कहो कि "न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि" उस समय मृत्यु और अमृत दोनों नहीं थे। यह वाक्य काल की अनित्यता सिद्ध नहीं करता किन्तु सृष्टि के अभाव के कारण मृत्यु के मार्य्य विषय के अभाव का बोधक है अतएव इस अहोरात्रात्मक काल का विनाश कहा है। यथाः—

* यम का मरण ॥

यमो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत॥ अ० १८।३।१३

अर्थ=(मर्त्यानां+प्रथमः) मरने वालों में प्रथम (यमः+ममार) यम अर्थात् दिवसरूप काल मरा और (यः+प्रथमः) जो प्रथम (एतं+लोकम्) इस दृश्यमान लोक को (प्रेयाय) चला गया। ऐसे (जनानां+सङ्गमनम्) प्राणियों को संगम अर्थात् इकट्ठा करने हारे (राजानम्) दीप्ति-प्रद (वैवस्वतम्+यमम्) वैवस्वत यम को (हविषा+सपर्य्यत) प्रीति-रूप हवि से सत्कार करो।

भाव—इसका आशय अब कठिन नहीं। क्योंकि हम निरूपण कर चुके हैं कि यम यह नाम दिन का है। यह दिन उत्पन्न-प्राणियों को उपदेश दे रहा है कि प्रत्येक पदार्थ विनश्वर है। प्रथम स्वयं यह दिनरूप देव प्रतिदिन सायंकाल होते ही मर जाता है और पृथिवीके एक भाग को छोड़ दूसरे भागमें जाना ही इसका परलोक-गमन है। इस दिवस-रूप देवका प्रतिदिन आना जाना ही हमें शिक्षा दे रहा है कि मृत्यु सबके लिये तैयार है। ऐ मनुष्यो! ऐसे वैवस्वत अर्थात् मनुष्यमात्र के हितकारी सब प्राणियों को अपने साथ रखनेहारे राजराजेश्वर परमात्म-देव को प्रीति से पूजो। एक बात यहां यह भी स्मरण रखनी चाहिये कि सूर्य पश्चिम दिशा में आते ही, मानो, वृद्ध हो अस्त हो जाता है पुनरपि पूर्व दिशा जाके, मानो, नवीन जीवन धारण करता है अतः पूर्व पश्चिम

---

* परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्यत ॥ ऋ० १० । १४ । १ ॥

दिशाएं, मानो, जीवन-मरण सूचित कर रही हैं। यम नाम सूर्य का भी है सूर्य के गमनागमन दिखा वेद ईश्वर की ओर ले जा रहा है। इस यम के मरण के वर्णन से वेद शिक्षा देता है कि मेरा तात्पर्य केवल इस अहोरात्रात्मक सूर्यजन्य काल से ही नहीं किन्तु अविनश्वर नित्य विभु काल से भी जानो। परन्तु यहां ही तक वेद नहीं ठहरता इस नित्य विभुकाल का भी शासक एक नित्य चेतन शुद्ध बुद्ध यम नाम से प्रसिद्ध परब्रह्म परमात्मा है इसको भी अच्छे प्रकार दिखलाता है। यथाः—

तिस्रोद्यावः सवितुर्द्वाउपस्थां एका यमस्य भुवनेविराषाट्। आणिंन रथ्यममृताऽधि तस्थुरिह ब्रवीतुयउतच्चिकेतत् ऋ० १।३५।६

(द्याव+तिस्रः) द्यौ अर्थात् द्युलोक तीन हैं (द्वौ+सवितुः+उपस्थाम्) दो सविता के समीपस्थ हैं और (एका+यमस्य+भुवने) एक यम के भुवन में हैं जो (विराषाट्) वीरों को आश्रय देनेहारा है और (इह) इसी तृतीय द्युलोक में (आणिम्+न+रथ्यम्) रथ सम्बन्धी कील-समूहों के समान (अमृता+अधि+तस्थुः) अविनश्वर पदार्थ स्थित रहते हैं (ब्रवीतु०) जो इसको जानता है वह इसका निरूपण करे।

भाव यह है कि सूर्य के दोनों पार्श्व (बगल) में अथवा ऊपर नीचे, मानो, दो लोक हैं जो सूर्य से प्रकाशित होने से सूर्यसमीपस्थ कहे गये हैं। अथवा दिन और रात्रिरूप दो लोक हैं। इसी प्रकार प्रकाशक और प्रकाश्य के हिसाब से इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को दो लोक मानें। और इससे परे तृतीय लोक अर्थात् ब्रह्मस्वरूप ही जो तृतीय लोक है जिसके आश्रित ये नित्य जीव और प्रकृति अधीन रहती है इसी के निकट सब धर्मवीर पहुंचते हैं इसी के बारे में "तृतीये धामन्नध्यैरयन्त" इत्यादि पद आये हैं। यहां पर यम शब्द से उसी परमात्मा चेतनदेव का ग्रहण है। इस प्रकार आप देखते हैं कि वेद के वर्णन का क्या क्रम होता है। पहले इस अहोरात्रात्मक काल को यम कहा। तब इसके पिता विवस्वान् को 'यम' यह नाम देता। पश्चात् यह सूर्य भी जिस यम के अधीन है उसकी चर्चा करता पुनः वह यम (काल) भी जिस चेतन महायम के आश्रित है उसको बतलाता है। मैं इन सब विषयोंको अति संक्षेप से कहता जाता हूं। विचारशील पुरुष इसको बहुत विस्तार से समझें।

" यम पितरों के अधिपति कैसे ? "

इसके अनेक कारण हैं । १–यम-शब्दार्थ धर्म और मृत्यु भी हैं और पितृ-शब्दार्थ वृद्ध और रक्षक हैं यह अनेकशः कहा गया है । वृद्ध पुरुषों के साथ यम अर्थात् मृत्यु प्रतिक्षण लगा ही रहता है कोई पितर आज मरे कोई कल कोई परसों इस प्रकार पितर अर्थात् वृद्धतम नर नारी प्रतिदिन एक न एक इस लोक से उठते ही रहते हैं अर्थात् यम जो मृत्यु है उस ने इन पितरों के ऊपर, मानो, अपना अधिकार पूरा जमा रक्खा है अतः पितरों का अधिपति यम कहा गया है। इसी कारण पितृशब्द के साथ यम शब्द का प्रयोग बहुत देखते हैं। यह दृश्य वानप्रस्थाश्रम में अच्छे प्रकार मालूम हो सकता है क्योंकि यहां वृद्धतर माता पिता पितामही पितामह प्रपितामही प्रपितामह तीनों प्रकार के पितर इकट्ठे रहते हैं इन में से एक न एक इस संसार में प्रस्थान करते ही रहते हैं यहां ही यमका व्यापार पूरा प्रतीत होता है कि और कहना पड़ता है कि यहां, मानो, यम पूरा राज्य कर रहा है । २–सकल लौकिक व्यापार छोड़ के पितृगण इस जरावस्था में सदा धर्म्म की ही चिन्ता करते हैं । अरण्य में निवास करते हुए उन्हीं बृहदारण्यकादि ग्रन्थों का मनन करते हैं । ईश्वर-परायणता के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य्य ही नहीं रहता अतः यम जो धर्म्म है वह भी इन के ऊपर, मानो, अपना राज्य पूरा जमा रहा है अतः पितरों का अधिपति यम कहा गया । ३–वैदिक संकेत यह है कि प्रत्येक प्रकार के रक्षकों को पितर कहना चाहिये और यम के समान एक-दृष्टि से देखने वाले पुरुष का भी नाम यम है सो जो कोई सब पितरों को एक नियम में चलाने वाला नियुक्त किया जाय वह भी यम पुकारा जाय इस कारण से भी पितरों के अधिपति को यम कहते हैं । ४–यम नाम साक्षात् सूर्य्य का भी है और पितर नाम ऋतु का है ऋतुओं के अधिपति यम अर्थात् सूर्य्य हैं अतः पितृपति यम है अथवा पितर नाम देवों का है उस का अधिपति यम-सूर्य्य है । पितर=प्राण । यम=ईश्वर इत्यादि अनेक हेतुओं से पित्रधिपति यम कहलाता है । इसी-कारण वेद कहते हैं ।

यमः पितॄणामधिपतिः स माऽवतु । अस्मिन् ब्रह्मण्य-स्मिन् कर्म्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्या-मस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा * ॥

अथर्व० । ५ । २४ । १४ ॥

परम वृद्ध कर्म्मनिष्ठ पितरों का अधिपति जो यम अर्थात् धर्म्म है अथवा रक्षकों का अधीश्वर जो सभेश न्यायाधीश है अथवा रक्षकों का भी जो रक्षक ईश्वर है वह मुझे प्राप्त हो । इस कर्म्म में सहायक हो इत्यादि इसके अर्थ होते हैं ।

१—यमाय पितृमते स्वधा नमः । अथर्व १८ । ४ । ७४ ।

२—तेभिर्यमः संरराणः । अ० १८ । ३ । ४६ ।

३—यमाय त्वांगिरस्वते पितृमते स्वाहा । यजु० ३८ । ९ ।

इत्यादि मन्त्रों में पितृमान् यम की चर्चा देखते हैं आगे भी लिखे जायंगे । महीधर यजुर्वेदीय मन्त्र का यमशब्दार्थ वायु करते हैं । इसप्रकार यम पितृपति कहाते हैं और पितृगणों के साथ इसका इतना प्रयोग है । एक बात यहां और भी स्मरण रखनी चाहिये कि ' पितर ' नाम सूर्य्य-किरणों का भी है। यम नाम सूर्य्यका है अतः सूर्य्य-देव पितर अर्थात् किरणों के अधिपति हैं । इत्यादि भाव जानना ।

यमदूत ।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति । वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोपसेधामि सर्वान् । अ०८।२।११

ईश्वर कहता है कि ऐ सदाचारी पुरुष ! (ते+प्राणापानौ+कृणोमि) तुझे प्राण अपान वायु देता हूं और (जराम्+मृत्युम्+दीर्घम्+आयुः) जरावस्था, मृत्यु और दीर्घ-आयु देता हूं (स्वस्ति) सर्वथा तुझे कल्याण प्राप्त हो (वैवस्वतेन+प्रहितान्) वैव-

* विवाह संस्कार में " यमः पृथिव्या अधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् " इत्यादि पाठ आया है ।

स्वत-यम से प्रहित अर्थात् भेजे हुए (चरतः+सर्वान्+यमदूतान्) विचरते हुए सब यमदूतों को (अप+सेधामि) दूर करता हूं ।

नयताऽमून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत ।

परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥ अ० ८ । ८ । ११ ॥

(मृत्युदूताः+यमदूताः) ऐ मृत्युदूतो ! हे यमदूतो ! (अमून्+नयत) इनको लेजाओ (अप+उम्भत) इन को बांधो (परःसहस्राः+हन्यन्ताम्) सहस्रों हत होवें (भवस्य+मत्यम्) भव का मत्य=विद्युत् का गोला (एनान्+तृणेढु) इनको हिंसित करे ।

इत्यादि मन्त्रों में यमदूत शब्द के प्रयोग देखते हैं । ये यमदूत कौन हैं ? अब यह जानना सुगम है । यह सिद्ध होचुका है कि यम नाम महाकाल का है । अतः इस के दूत भी वैसे ही होने चाहिये । इस कारण, क्षण, पल, विपल, दण्ड, प्रहर, दिन रात्रि, दोनों सन्ध्याएं इत्यादि जो काल के अवयव हैं यही यम के दूत हैं । अन्यान्य कोई चेतन देहधारी नहीं । ये ही पल विपलादि—समय प्राणियों की आयुको हरण कर रहे हैं । अब मन्त्रों के भावार्थ पर ध्यान दीजिये । यह अखण्ड महाकाल—यम, मानो, इन क्षण पलादिकों का स्वामी है और ये सब इस के दूत हैं । मानो, यह महाकाल अपने दूतों को प्राणहरणार्थ इधर उधर भेजा करता है और ये प्राणों को हरण कर ले आते हैं । इसी हेतु अलङ्कार रूप से कहा जाता है कि वैवस्वत यम इन को भेजते हैं ये इस के दूत हैं इत्यादि । यम नाम मृत्यु का है यह इस अथर्ववेद के ८ अष्टम काण्ड के अध्ययन से अच्छे प्रकार जाने जाते हैं । यह काण्ड ही एक प्रकार से मृत्यु काण्ड है । यहां कहीं प्राणहर्ता को मृत्यु-दूत और कहीं यम-दूत कहीं दोनों कहा गया है । एवं अन्तकाय मृत्यवे नमः इत्यादि पद से मृत्यु के लिये भी अन्तक पद आता है जो यम का पर्य्याय है । अथवा न्यायाधीश आदि भी यहां यम शब्दार्थ हो सकता यथा योग्य अर्थ करना । यम के दूत ये क्षण पलादिक हैं यह आगे के मन्त्र से और भी विस्पष्ट होता है । यथाः—

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवा स्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः॥अ०८।२।२१

ईश्वर कहता है कि ऐ महाकाल ! (ते+शतम्+अयुतम्+हायनान्) तुम को १०० एकसौ-१०००० दश सहस्र वर्ष और (द्वे+त्रीणि, चत्वारि+युगे) दो, तीन, चार इत्यादि अनेक युग (कृण्मः) देता हूं । (इन्द्राग्नी०) इन्द्र, अग्नि और सूर्य्य-किरण, पृथिवी, सूर्य्य चन्द्र आदि देव सब इस महाकाल की रक्षा करें । अर्थात् यह जगत् बहुत दिनों तक स्थिर रह जिस से इस काल का सार्थक्य हो ।

यम और यमसभासद् ।

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः
अविस्तस्मान् प्रमुञ्चाति दत्तः शितिपात् स्वधा । अ० ३।२९।१॥

(यमस्य) यम अर्थात् राजराजेश्वर न्यायाधीश के (अमी राजानः सभासदः) जो ये बड़े २ राजा सभासद् हैं (इष्टापूर्तस्य+यत्+षोडशम्) इष्ट विविध यज्ञ, आपूर्त कूप, तडागादि अर्थात् शुभ कर्म्म का जो सोलहवां भाग है (विभजन्ते) उसको ये यम-सभासद् अपने न्याय के कारण लेते हैं अर्थात् शुभ कर्म्म के सोलहवां भाग राजसभासदों को प्राप्त होता है । क्योंकि रक्षा के विना शुभ कर्म्म नहीं हो सकते । (तस्मात्) इस हेतु (अविः) रक्षारूप महा धर्म्म " अव रक्षणे " (शितिपात्) श्वेत पैर वाला है अर्थात् दया सत्यता यश कीर्ति आदि श्वेत और क्रूरता, असत्यता, अपकीर्ति आदि कृष्ण कहाते हैं । दया सत्यादि धर्म्म के पैर हैं । पुनः (स्वधा) सब को धारण करने वाली है । वह रक्षा प्रजाओं में फैलने से (प्रमुञ्चाति) उन को सब दुःखों से छुड़ा लेती है । यहां यम शब्दार्थ न्यायाधीश विस्पष्ट है ।

यम के दो कुत्ते ॥

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ ।
अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः । अ०८।१।९॥

(पथिरक्षी+यमस्य+प्रेषितौ+यौ+श्वानौ) मार्गरक्षक और यम के भेजे हुए जो दो श्वान हैं उस में से एक (श्यामः च) श्याम और दूसरा (शबलः च) शबल है। वे दोनों श्वान (त्वा) ऐ मनुष्यो ! तुझे (मा) बाधा न डाले (अर्वाङ्+एहि) सीधे मेरी ओर आओ (मा+विदीध्यः) चिन्ता मत करो (अत्र+पराङ्मनाः+मा+तिष्ठः) इस संसार में मुझ से पराङ्मुखमत रहो।

अब यम के दो कुत्तों के भावको समझना कुछ कठिन नहीं रहा। हम देखते हैं कि यह जो समय व्यतीत हो रहा है इस में लगातार दो घटनाएं होती ही रहती हैं। एक दिन और दूसरी रात्रि। ये ही पृथक् २ यम के दो कुत्ते हैं। दो शब्द का प्रयोग ही सूचित करता है कि इसका अर्थ दिन रात्रि है। कुत्ता इस को इस कारण कहा है। कि ये दिन रात्रि-समय कुत्ते के समान प्राणियों के परमभक्त रक्षक हैं यदि इस की पोषण सम्यक् रीति से हो, अन्यथा ये ही दो कुत्ते पागल हो इस प्रकार मनुष्योंको काटते हैं कि उस रोग से मुक्त होना अतिदुस्तर होजाता है। जो सदाचारी इस समय को अच्छे प्रकार अच्छे कर्म्म में लगाते हैं उन के लिये रक्षक और जो दुराचारी बुरे कर्म्ममें इसको लगाते हैं उन के लिये भक्षक बन जाता है। रात्रि प्रायः काली होती है और दिन प्रायः श्वेत होता है इस कारण एक कुत्ते को श्याम और दूसरे को शबल कहा है। चित्र विचित्र रंग का नाम शबल है इस पृथिवी पर सर्वत्र दिन एक समान नहीं होता अथवा विविध वर्ण भूषित जीवों से यह दिन रूप देव राजित होता है इत्यादि कारण वश दिन को शबल कहा है। अब मन्त्राशय यह यह हुआ कि ईश्वर जीवों को चिताता है कि ऐ जीवो ! तुम्हारे लिये जो रक्षक बनाए गए हैं ये तुम्हारे रास्ते में घातक न बनें (जैसे राजदूत साधुपुरु के रक्षक और असाधु के भक्षक होते हैं) यदि तुम सीधे मेरी ओर आओगे मुझ से पराङ्मुख न होवोगे तब तो ये दोनों अहोरात्रात्मक कुत्ते तुम्हारी रक्षा करेंगे और यदि इस प्रकृति देवी की लीला में अनुचित रीति से फँसोगे तब वे ही दोनों कुत्ते खाजावेंगे इत्यादि भाव जानना। आगे भी इसी प्रकार का भाव समझना।

अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अथा पितॄन् सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ऋ०१०॥

अतिद्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अथा पितॄन् सुविदत्राँ अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति। अ०१८

ऋग्वेद और अथर्ववेद के पाठ में किञ्चित् भेद है इस हेतु दोनों पाठ दिये गए हैं। (चतुरक्षौ) चतुर्नेत्र (शबलौ) श्याम और शबल जो (सारमेयौ) सरमा "उषा, प्रातःकाल" के पुत्र (श्वानौ) दो कुत्ते हैं उनको (साधुना+पथा) साधु अर्थात् सत्य मार्ग से (अतिद्रव) प्राप्त करो (अथ) और (सुविदत्रान्+पितॄन्) सुविदत्र अर्थात् परमज्ञानी पितरों के (उपेहि) समीप जा सुशिक्षा प्राप्त करो (ये) जो पितर (यमेन+सधमादं+मदन्ति) यम अर्थात सत्यभाषण, सत्य विद्योपदेशादिरूप धर्म, उस के साथ विलास करते हैं ।

चतुरक्ष–चार २ प्रहरों के दिन और रात्रि होते हैं । मानो, एक २ प्रहर एक एक नेत्र है । सरमा=यह नाम भी उषा का है उषा के अनन्तर दिन रात्रि आते हैं अतः, मानो, ये दोनों इसके पुत्र हैं । यम भी 'सरण्यू' अर्थात् उषा का पुत्र है फिर यम के सारमेय दूत कैसे ? उत्तर यद्यपि सरण्यू का पुत्र यम कहा है परन्तु जैसा मैं पूर्व में लिख चुका हूं कि अहोरात्र समूहरूप जो अखण्ड काल है उसे यम कहते हैं और विभक्तरूप जो दिन और रात्रि है वह उसके, मानो, दूत हैं । इसमें भी क्षण पल विपल आदि हैं वे, मानों, छोटे २ यम के दूत हैं। एवं छः मास उत्तरायण एक दूत छः मास दक्षिणायन एक दूत इस प्रकार रूपक समझ लेवें। अथवा द्वितीय अर्थ इसका यह भी होगा कि कोई मरणकाल में सदाचारी पुरुष को समझाता है कि ऐ मुमूर्षु पुरुष! जिस हेतु आप धर्मात्मा हैं अतः इस चतुरक्ष श्याम और शबल रात्रि दिन को (अतिद्रव) उल्लंघन करें अर्थात अहोरात्रात्मक काल के अधीन पुनरपि न होवें किन्तु अपने उत्तम कर्म के बल से यम अर्थात् अपने वश में सब को रखनेहारा जो नियन्ता परब्रह्म है इसके साथ जो विलास करते हुए मुक्तावस्था में पितृगण हैं उन्हें प्राप्त होवें । अथवा कोई ऋषि वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करते हुए को शिक्षा देते हैं कि ऐ पितरो ! जिस दिन-रात्रि रूप काल में श्याम-शबल अर्थात् बुरे भले कर्म किये जाते हैं उन्हें अब (अ-

सिद्ध) त्यागो । अब उत्तम पथ से उन परमज्ञानी पितरों से जा मिलो जो केवल यम (धर्म) के साथ ही आनन्द कर रहे हैं । इत्यादि इसके भाव हो सकते हैं आगे भी ऐसा ही समझना ।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ । ताभ्यामेनं परिदेहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि । ऋ०।१०

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदी नृचक्षसा । ताभ्यां राजन् परिधेह्येनं स्वस्त्यस्मा अनमीवं च धेहि ॥ अ० १८॥

(राजन्+यम) हे सद्व्यवहारप्रकाशक धर्म (ते+यौ) आप के जो (रक्षितारौ) रक्षक (चतुरक्षौ) चतुःप्रहर रूप नयनवाले (पथिरक्षी) मार्ग रक्षक और (नृचक्षसौ) मनुष्यों के व्यापार प्रदर्शक (श्वानौ) दिन और रात्रिरूप शबल और श्याम कुत्ते हैं (एनम्+ताभ्याम्) उन दोनों को यह पुरुष (परि+देहि) समर्पित करो और (स्वस्ति+अनमीवम्+च) क्षेम और आरोग्य (धेहि) दो ।

उरूणसा वसुतृपा उदुंबलौ यमस्य दूतौ चारतो जनाँ अनु । तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दाता मसुमद्येह भद्रम् ॥ ऋ० १०

अथर्ववेद १८ । २ । १३ । यहां पाठ भेद नहीं । (यमस्य) इस महाकालनामा यम के (दूतौ) अहोरात्ररूप दो दूत (जनान्+अनु) जनों के पीछे २ (चरतः) विचरते हैं वे । कैसे हैं (उरूणसा) दीर्घ-नासिका-युक्त हैं (असुतृपौ) प्राण लेके जो तृप्त होते हैं (उदुम्बलौ) और बड़े बलिष्ठ हैं (तौ) वे (सूर्याय+दृशये) सूर्य के दर्शन के लिये (अद्य+इह) आज इस शुभ कर्म में (असुम्+भद्रम्) समीचीन प्राण और कल्याण (पुनः+अस्मभ्यम्+दाताम्) पुनः हम को देवें ।

* इस 'श्वान्' शब्द के ऊपर छान्दोग्योपनिषद्भाष्य में विस्तार से वर्णन किया है प्राण, धर्म, उषा, किरण आदिकों को भी 'श्वान' कहा है । युधिष्ठिर महाराज के साथ

वही धर्मरूप कुत्ता स्वर्ग तक रहा । जनमेजय को इसी धर्मस्वरूप सारमेय ने शाप दिया था । सरमा नाम उषा वा सूर्य किरणों का है इसीसे सारमेय बनता है । आजकल की भाषा में सारमेय भी कुत्ते का नाम है, इत्यादि अनुसन्धान से यम वा यम के सभासद् और कुत्ता आदि भी केवल काल ही सिद्ध होता है ।

यम और चित्रगुप्त—आर्ष ग्रन्थों में चित्रगुप्त की कोई वार्ता नहीं पाते । परन्तु सकल पुराण इसकी चर्चा विस्तार से करते हैं । यथार्थ में चित्रगुप्त कौन है ? जब यमदेव ही कोई चेतन हस्त-पादादि-युक्त देव सिद्ध नहीं होता है तब चित्रगुप्त लेखक चेतन कैसे सिद्ध हो सकता है । यम नाम धर्म का है । धर्म का लेखक कौन ? निःसन्देह धर्म का लेखक चित्त अर्थात् अन्तःकरण है । इसी अन्तःकरण का नाम पुराणों में चित्रगुप्त है । जो कुछ हम भले बुरे कर्म करते करवाते, सुनते सुनवाते, देखते, दिखाते, सोचते विचारते हैं सब की छाया अन्तःकरण रूप भीत के ऊपर जा पड़ती है । और पत्थर की लकीर के समान उस पर सब बातें चित्रित हो जाती हैं । जैसे फोनोग्राफ हमारे शब्दों को अपने में चित्रित करता है, जैसे फोटोग्राफ छाया लेता है वैसे ही हमारा अन्तःकरण सकल बाह्य वा आभ्यन्तरिक पदार्थों को अपने में सं-चित कर लेता है । वह कभी नहीं मिटता वही कर्मरेख कहलाती है । जिस हेतु अ-ज्ञात रूप से प्राणियों के व्यापार का चित्र खींचता है, अतः इसका नाम "चित्रगुप्त" है ।

यम और दक्षिण दिशा ॥

लोक कहते हैं कि दक्षिण दिशा में यमपुरी है । पापी लोगों को उसी ओर यम-दूत लेजाते हैं इत्यादि । इस का क्या कारण है ? अब बुद्धिमान् पुरुषों के लिये इसका भी कार्य दुर्बोध नहीं है । सुनिये । इस पृथिवी पर एक बिचित्र घटना देखते हैं कि जाब सूर्य्य दक्षिणायन होता है तब दिन बहुत छोटा होजाता है जाड़ा बहुत पड़ने लग-ता है । कभी २ ऐसा हिम गिरता है कि बड़े २ वृक्ष भी सूख जाते हैं पौष, माघ में प्रायः कमल, कुमुदिनी आदि पुष्प और विविध कोमल लताएं तो अवश्य हिमपात से दग्ध होजाती हैं । कभी २ मनुष्य भी शिमला, कैलाश आदि हिमप्रधान प्रदेश में इस

यही धर्मरूप कुत्ता स्वर्ग तक रहा । जनमेजय को इसी धर्मस्वरूप सारमेय ने शाप दिया था । सरमा नाम उषा वा सूर्य किरणों का है इसीसे सारमेय बनता है । आजकल की भाषा में सारमेय भी कुत्ते का नाम है, इत्यादि अनुसन्धान से यम वा यम के सभासद् और कुत्ता आदि भी केवल काल ही सिद्ध होता है ।

यम और चित्रगुप्त—आर्ष ग्रन्थों में चित्रगुप्त की कोई वार्ता नहीं पाते । परन्तु सकल पुराण इसकी चर्चा विस्तार से करते हैं । यथार्थ में चित्रगुप्त कौन है ? जब यमदेव ही कोई चेतन हस्त-पादादि युक्त देव सिद्ध नहीं होता है तब चित्रगुप्त लेखक चेतन कैसे सिद्ध हो सकता है । यम नाम धर्म का है । धर्म का लेखक कौन ? निःसन्देह धर्म का लेखक चित्त अर्थात् अन्तःकरण है । इसी अन्तःकरण का नाम पुराणों में चित्रगुप्त है । जो कुछ हम भले बुरे कर्म करते करवाते, सुनते सुनवाते, देखते, दिखाते, सोचते विचारते हैं सब की छाया अन्तःकरण रूप भीत के ऊपर जा पड़ती है । और पत्थर की लकीर के समान उस पर सब बातें चित्रित हो जाती हैं । जैसे फोनोग्राफ हमारे शब्दों को अपने में चित्रित करता है, जैसे फोटोग्राफ छाया लेता है वैसे ही हमारा अन्तःकरण सकल बाह्य वा आभ्यन्तरिक पदार्थों को अपने में सं-चित कर लेता है । वह कभी नहीं मिटता वही कर्मरेख कहलाती है । जिस हेतु अ-ज्ञात रूप से प्राणियों के व्यापार का चित्र खींचता है, अतः इसका नाम "चित्रगुप्त" है।

यम और दक्षिण दिशा ॥

लोक कहते हैं कि दक्षिण दिशा में यमपुरी है । पापी लोगों को उसी ओर यम-दूत लेजाते हैं इत्यादि । इस का क्या कारण है ? अब बुद्धिमान् पुरुषों के लिये इसका भी कारण दुर्बोध नहीं है । सुनिये । इस पृथिवी पर एक विचित्र घटना देखते हैं कि जब सूर्य्य दक्षिणायन होता है तब दिन बहुत छोटा होजाता है जाड़ा बहुत पड़ने लग-ता है । कभी २ ऐसा हिम गिरता है कि बड़े २ वृक्ष भी सूख जाते हैं पौष, माघ में प्रायः कमल, कुमुदिनी आदि पुष्प और विविध कोमल लताएं तो अवश्य हिमपात से दग्ध होजाती हैं । कभी २ मनुष्य भी शिमला, कैलाश आदि हिमप्रधान प्रदेश में इस

शैत्य से मर जाते हैं, स्वयं सूर्य्य भगवान् निस्तेज, प्रभा-रहित वृद्ध-पुरुष-सदृश भासित होते हैं। यह सब घटना सूर्य्य के दक्षिण ओर होने पर ही होती है। इतना ही नहीं, श्री रामचन्द्र जब भारतवर्ष की दक्षिण दिशा में गए हैं तब ही, सूर्य्य-प्रभा-सदृशी सीताजी का हरण हुआ है। रावणादि राक्षसों का आक्रमण भी भारतवर्ष के ऊपर दक्षिण दिशा से ही हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष का इतिहास भी साक्षी देता है कि किसी समय दक्षिण की ओर से कइ एक दस्यु-जातियां इस देश पर बराबर चढ़ाइ करती रहीं। जो कुछ हो, लौकिक-घटना के ऊपर ध्यान न दे के केवल मैं प्राकृतिक-घटना की ओर देखता हूं तो निःसन्देह सूर्य्य का दक्षिण होना और इस के साथ साथ पृथिवी पर हिम की वृद्धि और दिन का घटना इत्यादि विशेष घटनाएं मनुष्यों के हृदय में इस भाव को उत्पन्न कर दे सकती हैं कि दक्षिण दिशा में कोई महाप्रबल मृत्यु है जो इस महान् सूर्य्य को भी अपनी ओर खींच कर निगलना चाहता है चूंकि सूर्य्य उस से कहीं अधिक बलिष्ठ है इस कारण प्रतिवर्ष इस से बच के पुनः देवभूमि उत्तर की ओर लौट आता है। इस प्रकार प्राकृतिक आपत्ति देख अनुमान करने लगे कि दक्षिण में यम की पुरी है जहां अपनी सेना सहित यम निवास करता है जो सर्वदा सूर्य्य को भी तंग किया करता है और पौराणिक समय में सूर्य्यदेव आर्य्यों के परम प्रिय परमपूज्य देव रह चुके हैं। ऐसे देव को दक्षिण में क्लेश-ग्रस्त होते हुए देख पीछे लोगों को निश्चय होगया कि इस दिशा में अवश्य ही यमपुरी है। एवं यह घटना वाल्मीकिरामायण से और भी दृढ़ होगई कि जब सूर्य्य-वंशी रामचन्द्र की प्रभास्वरूपा-सीता देवी का दक्षिण से हरण हुआ अतएव कोई २ समालोचक रामायण को सूर्य्य के दक्षिणायन और खिन्न होने की घटना स्वरूप ही मानते हैं। जो कुछ हो इस प्रकार धीरे २ दक्षिण दिशा का अधिपति यम बन गया और लोग उत्तर को देवपुरी और दक्षिण को यमपुरी कहने लगे। इसी भाव के वश हो श्मशान, मारणादि क्रिया दक्षिण दिशा में करने लगे दक्षिण को अमंगल-सूचक समझने लगे।

परन्तु क्या सचमुच ऋषियों के हृदय में भी यह भाव था। नहीं। ऋषि समझते थे कि न तो सूर्य्य घटता और न बढ़ता, न मन्द और न तीक्ष्ण होता, न उत्तर

और न दक्षिण ही यात्रा करता। यह सब घटना पृथिवी पर पृथिवी के गोल और भ्रमण के कारण से होती है। हां! अलङ्काररूप से इन घटनाओं को मानव-जीवन को सुधारने के लिये वर्णन किया करते थे। एवं यम का राज्य अर्थात् अहोरात्ररूप काल का राज्य सर्वत्र तुल्य समझते थे। यदि कहो कि "ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्। यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि।" अथर्व० ४। ४०। २। और "दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते" अथर्व० १२। ३। ५६। इत्यादि वैदिक-प्रयोगों में दक्षिण दिशा और यम का सम्बन्ध देखते हैं पुनः आप ऐसा क्यों कहते हैं। इस का समाधान यह है कि पूर्व में वर्णन होचुका है कि अहोरात्रात्मकोपाधि-विशिष्ट काल ही वैदिक-यम है। इसी से लोगों की आयु मापी जाती है और इसी के अभ्यन्तर रह प्राणी मरते जाते हैं इस कारण इसी के नाम अन्तक, मृत्यु, काल, दण्डधर आदि हैं। दक्षिणायन-सूर्य्य में शैत्याधिक होने से प्रायः सम्पूर्ण पृथिवी पर प्राणियों का अधिक निपात होता है। छोटी २ चींटी आदि कीड़े, मक्खी प्रभृति पतङ्ग, कमलादि कोमल लताएं विशेष कर गृहस्थों के हरे भरे खेत इत्यादि अनेक पदार्थ विनष्ट होने लगते हैं। अतएव कहा है कि दक्षिण दिशा मृत्युद्वार है। यहां दक्षिण-दिशा से दक्षिणदिशास्थ सूर्य्य से अभिप्राय है। पृथिवी के दक्षिणभाग से नहीं। और इसी कारण धीरे २ दक्षिण दिशा को अमंगल भी मानने लगे। इत्यलम्।

कदाचित् लोग यह शङ्का करेंगे कि सूर्य्य के दक्षिणायन होने पर दुःख के स्थान में सुख ही सुख देखते हैं। वर्षा ऋतु आते ही जीवगण शीतल होजाते हैं। विविध ओषधियों और हरित तृणों से पृथिवी भर जाती है तत्पश्चात् शरद्, हेमन्त और शिशिर ऋतु आने पर बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। लोग खूब खा पीके पचा सकते हैं, आमोद, प्रमोद-क्रीड़ा, हास विलास इन ऋतुओं में निरुपद्रव कर सकते हैं। एवं जब सूर्य्य उत्तर होने लगता है तब से तो एक प्रकार क्लेश ही क्लेश आने लगता है। गरमी से व्याकुल होजाते, अन्नपान से रुचि जाती रहती है, बड़े वेग से वायु चलने लगता है, ग्रीष्म में पशु, पक्षी भी त्राहि २ मचाने लगते, तड़ाग, सरोवर, नदी प्रभृति जला-

शय सूखजाते हैं । एवं किसी २ देश में तो यह ग्रीष्म ऋतु इतना भयङ्कर होता है कि लूह से मनुष्य भी मरने लगते हैं । फिर आप उत्तरायण को प्रशस्त और दक्षिणायन को निन्द्य कैसे कह सकते हैं । ठीक है । ऐसा सन्देह हो सकता है परन्तु यह भी तो सोचिये उत्तरायण को सब देवपदवी क्यों दी है । आप के शास्त्र शुभ कर्म का विधान उत्तरायण में क्यों प्रशस्त मानते हैं । इतना ही नहीं बल्कि दक्षिणायन में मृत्यु होने से दुर्गति और उत्तरायण में सुगति कहते हैं । भीष्मपितामह का उदाहरण इस में पेश करते हैं । यदि दक्षिणायन अच्छा है । तो इस सब का कारण क्या है ? सच बात यह है कि दक्षिणायन में जितना सुख है उस से कहीं बढ़ के दुःख है । वर्षा आरम्भ होते ही पृथिवी के अभ्यन्तरनिवासी चींटी आदि पानी की अधिकता से मरजाते हैं यदि कहीं नदियों की बाढ आई तो मूषक, शृगाल, शशक आदि नदीसमीपस्थ जन्तु डूब कर मरजाते हैं । शरद् ऋतु आते ही खूब बीमारी फैलती है । जाड़े में हिमप्रदेशनिवासी जीवों का निपात हो ही जाता है अन्यत्र भी जीवनप्रद, शस्यसम्पन्न खेत हिमपात से सूख जाते हैं । आप देखते होंगे कि जाड़े में गृह मक्षिकाओं का तो एक प्रकार से अभाव होता है । इंगलैंड आदि हिमप्रधान प्रदेशों में जीवों को बड़ा क्लेश पहुंचता है । हां, पृथिवी के कुछ ऐसे भाग हैं जहां जाड़े में जीवों को विशेष सुख पहुंचता हो परन्तु अधिक भाग दुःखप्रद ही है, इस प्रकार सम्पूर्ण पृथिवी और समस्त जीवों पर दृष्टि डालने से दक्षिणायन दुःखप्रद ही प्रतीत होगा । उत्तरायण में यद्यपि गरमी होती है परन्तु वह आगे सुख का कारण बन जाती है । यदि सूर्य्य की इतनी प्रचण्डता न हो पृथिवी पर गरमी पहुंचे तो एक वर्ष के अभ्यन्तर लाखों बीमारी फैल के सब जीवों को नष्ट करदे, अतः दक्षिणायन की अपेक्षा उत्तरायण लाभप्रद है । इत्यादि समाधान जानना । इति ।

यम का पितरों के ही साथ इतना सम्बन्ध क्यों ? अब इस प्रश्न को भी समझना कठिन नहीं यम "पितरों का अधिपति कैसे" इस प्रकरणमें एक तरहसे इसका भी उत्तर हो चुका है तथापि संक्षेप से यहां परभी सुनिये । मानो, यम अर्थात् अहोरात्रात्मककाल ही सब को मारता है अथवा यही मृत्यु का कारण है अतः मृत्यु भी इस को कहते

है । वृद्धों के साथ प्रतिक्षण मृत्यु लगी हुई है । इन के साथ मृत्यु क्रीड़ा कर रही है । मानो, साक्षात् इन के देह पर मृत्यु देव विराजमान है । परमवृद्ध पुरुष को देख सब को मृत्यु भासित होने लगती है । लोग कहते हैं कि अब इन की मृत्यु निकट है । ये कानों से अब नहीं सुनते आंखों से नहीं देखते, इन्द्रियां सब क्रियाओं से निवृत्त होगई । आह ! देखो, साक्षात् इन पर यमराज विराजमान हैं । इत्यादि कारण से पितरों के साथ यम शब्दका प्रयोग अधिक है और भी मानो, यह अहोरात्ररूप काल एक देव है । परन्तु इन के सहायक कौन हैं ? निःसन्देह सूर्य्य के किरण । यदि ये किरण न हों तो इस अहोरात्रात्मक कालरूप यमका अस्तित्वही रहना दुर्घट है । अब यह जानिये कि सूर्य्य के किरणोंका नामभी पितर है, आगे उदाहरण दिया हुआ है, वेद और उपनिषद् जानने वालों को अच्छे प्रकार यह भी ज्ञात है कि अंगिरा, वसिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, गौतम, मरीचि आदि जितने ऋषिवाचक-शब्द हैं वे किरणवाचक भी हैं अतएव सप्तऋषि यह किरण के नामों में आता है । अब आप समझ सकते हैं कि वह अहोरात्रात्मक कालरूप यम सर्वदा पितर अर्थात् सूर्य्य किरणों के साथही विद्यमान रहेगा रात्रि में भी सूर्य्यकिरणानुगृहीत चन्द्रकिरणरूप पितर भासमान होंगे, इस कारण भी पितृ शब्द के साथ यम का बहुत सम्बन्ध देखते हैं, और भी । पिता नाम सूर्यदेव का है । वह बड़ा जागृत, प्रशस्त प्राणप्रद और देवों का भी देव है । ऐसा सूर्य्य जिस के पिता है उस कारण प्रायः यम को अधिक स्थान में " पितृमान् " कहा है यथा "यमाय त्वाऽङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा" यजु० ३८—९ ॥

पितृ-शब्द-किरणवाचक ॥

अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय-उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः । मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः । ९-८३-३ (उषसः+पृश्निः) प्रातःकाल का सूर्य्य (अरूरुचत्) सब को प्रकाशित कर रहा है (अग्रियः) वह श्रेष्ठ (उक्षा) जलसेक्ता (वाजयुः) अन्न-प्राण-प्रद सूर्य्य (भुवनानि+बिभर्ति) सकल भूतों को धारण पोषण करता है (अस्य+मायया+मायाविनः+ममिरे) इस सूर्य्य की माया से मायावी अर्थात् अन्धकार मर जाते हैं । (नृचक्षसः+पितरः+गर्भम्+आदधुः) जीवों के

नेत्रस्वरूप जगत्पालक सूर्य्यकिरण गर्भ अर्थात् वर्षारूप गर्भ को धारण करते हैं । यहां सायण भी " पितरः पालका देवा पितरो जगद्रक्षका रश्मयः " पितृ-शब्द के पालक देव और किरण दो अर्थ करते हैं । इस से विस्पष्ट हो जाता है कि पितर जो सूर्य्य किरण उन के विना यम अर्थात् अहोरात्रात्मक काल रह ही नहीं सकता है अतः पितरों के साथ यम का अधिक प्रयोग है । इति ।

यम ईश्वरवाचक ॥

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट् ।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ।ऋ०-१-३५

अर्थ—(तिस्रः+द्यावः) तीन द्युलोक हैं (द्वा) दो (सवितुः) सूर्य्य के (उपस्थाँ) समीपस्थ हैं । और (एका) एक द्युलोक (यमस्य+भुवने) यम के भुवन में है (विराषाट्) जो वीर पुरुषों का स्थान है और (रथ्यम्) रथ सम्बन्धी (आणिम्+न) आरा के समान जिस में (अमृता) अमृत अर्थात् मुक्त जीव (अधि+तस्थुः) स्थित हैं (यः+उ) जो ही (तत्+चिकेतत्) इस विज्ञान को जानता है (इह+ब्रवीतु) वही यहां कहे ।

तीन द्युलोक=द्युलोक, पृथिवी, और अन्तरिक्ष ये ही त्रिभुवन त्रिलोक आदि कहलाते हैं । इन में द्युलोक और पृथिवी ये दोनों सूर्य्य से प्रकाशित और धृत हैं इस कारण सूर्य्यसमीपस्थ कहाते हैं और सूर्य्य और पृथिवी के बीच के स्थान का नाम अन्तरिक्ष प्रसिद्ध है । परन्तु यहां कुछ अन्य अभिप्राय है । ऐसा भी कोई स्थान है जहां नतो यह सूर्य्य और न यह पृथिवी है । वह स्थान स्वयं प्रकाशमान ब्रह्मपद है " न तत्र सूर्य्योभाति न चन्द्रतारकम् " इसी कारण वेद कहता है वह तृतीय स्थान " यमस्य भुवने " सब को अपने नियम में रखने हारा ईश्वरके स्थानमें है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप ही वह स्थान है और जिस के आश्रित अमृतगण स्थित हैं, यहां विस्पष्टतया प्रतीत होता है कि यम नाम परब्रह्म परमात्मा का है इस का अर्थ पूर्व में भी कर चुके हैं ।

स्वामीजी यहां यमशब्द का अर्थ वायु करते हैं । " इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ऋ०-१ १६४-४६ यहां यम शब्दार्थ ईश्वर प्रत्यक्ष ही है । यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः मनुः । "सर्वसंयमनाद् यमः परमात्मा । वैवस्वत इति दण्डधारित्वात् । देवनाद्देव इत्यादि " यहां पर कुल्लूक भट्ट भी यम-शब्दार्थ परमात्मा करते हैं ।

यम आदित्य–वाचक ।

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः।
अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्॥ ऋ०।

अर्थ—(अः+अयं+होता) जो यह होता सब प्रकार के सुख देनेवाला अग्नि है (किः+उ+सः) वह कैसा है अर्थात् उसका व्यापार क्या है वह (यमस्य+कम्+अपि+ऊहे) सूर्य्य को अन्न पहुंचाता है (यत्+देवाः+समञ्जन्ति) जिस को देव अर्थात् सूर्य्यकिरण प्राप्त करते हैं वह (अहः+अहः) प्रतिदिन और (मासि+मासि) मास मास में अग्निहोत्रादि कर्म के लिये (जायते) उत्पन्न होता है (अथ+देवाः+हव्यवाहम्+दधिरे) इस हेतु विद्वद्गण अग्नि को सर्वदा धारण करते हैं । " यमस्य मृतेः यद्वा नियमयतीति यमो यजमानः" सा० ॥ सायण यहां यम शब्दार्थ मृत्यु और यजमान करते हैं । " यमस्य भगवत आदित्यस्य.........यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे इत्यस्यामृचि यमत्वमादित्यस्य वक्ष्यति " दुर्गाचार्य्यः ॥ दुर्गाचार्य्य यम शब्दार्थ आदित्य करते हैं। रमेशचन्द्रदत्त इस का यजमान अर्थ करते हैं । यह मन्त्र निरुक्त में भी पठित है ।

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः ।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ऋ० १०-१३५।

सायण का अर्थः—(सुपलाशे+वृक्षे) शोभन-पत्रोपेत वृक्ष के समान (यस्मिन्) जिस स्थान पर (यमः) आदित्य (देवैः+संपिबते) देव अर्थात् निज किरणों से संमिलित होता है " संपिबते संगच्छते " (अत्र+विश्पतिः) इस स्थान में स्थित हो

प्रजाओं को प्रकाश और वर्षा आदिकों से पालन करनेहारा (पिता) प्राणात्मा से सबका जनक वह आदित्य (पुराणान्+नः+अनुवेनति) निरन्तर स्तुति करने वाले हम चिरन्तन ऋत्विजों को (अनुवेनति) कामना करता है । यहां सायण भी यम शब्दार्थ आदित्य करते हैं। यहां "यमोरश्मिभिरादित्यः" यास्क भी यम शब्दार्थ आदित्य अर्थात् सूर्य्य ही करते हैं इसी सूक्त की " इदं यमस्य सादनम् " इस ऋचा में सायण यम शब्दार्थ आदित्य ही करते हैं परन्तु यह सम्पूर्ण सूक्त ईश्वर में भी घटता है " सुपलाश वृक्ष के समान जहां यम अर्थात् ईश्वर, देव अर्थात् मुक्त विज्ञानी पुरुषों के साथ संगत (संमिलित) होता है जो सब प्रजाओं का पालक है वह हम पुराण पुरुषों को भी देखने हारा है इत्यादि "अग्निरपि यम उच्यते तमेता ऋचोऽनुप्रवदन्ति" निरुक्त ४-२० यास्काचार्य यम शब्दार्थ अग्निभी करते हैं और इस में " सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न विद्युत्वेषा प्रतीका । यमोह जातो यमोजनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् " इत्यादि प्रमाण देते हैं । साकंजानां.... षडियमा ऋषयो देवजा इति ऋ० १--१६४--१५ यहां सब कोई यम शब्दार्थ ऋतु करते हैं इस प्रकार यम शब्द अनेकार्थक है इस में सन्देह नहीं । अब मैंने यम के बारे में बहुत कुछ लिखा है और पितृगण आदि के साथ भी इस की चर्चा रहेगी अतः ग्रन्थ अब बढ़ाना नहीं चाहते हैं । आप लोगों ने देखा कि सायण यहां तक बढ़ते हैं कि यम शब्दार्थ यजमान तक करते हैं। इन लोगों ने सम्पूर्ण वेदों को केवल कर्म्म में ही विनियुक्त किया है अतः अन्यान्य अर्थ में नहीं घटाया है। और इसी कारण वेद का अर्थ संकुचित होगया है । अतः वेदों पर विस्तार से व्याख्यान दिखलाने की आवश्यकता है ॥ इति ॥

यम और अन्यान्य ग्रन्थकार ॥

तिस्रो द्यावः सवितुः । ऋग्वेद १। ३५ । ६। इस ऋचा की टिप्पणी में रमेशचन्द्रदत्तजी लिखते हैं । पुराणे "यमी" अर्थ कि ताहां आमरा सकलेई जानि । किन्तु ऋग्वेदे प्रथमे कहा के " यम " वालित ? विवस्वानेर द्वारा सरण्यूर गर्भे यम ओ ताँहार भगिनी यमीर जन्म हय ताहा ३ सूक्तेर १ ऋचेर टीकाय देखान हइयाछे । विवस्वान्

अर्थ आकाश आकाशेर यमज सन्तान कहारा ? सरण्यूर अर्थात् प्रभातेर आकाशेर सहित विवाहेर अर्थ कि ? maxmuller बलेन दिवाई यम, रात्रिई यमी । सरण्यूर विवास्वानेर सहित विवाह हइयाछे अर्थात् उषा आकाश के आलिङ्गन करियाछेन, सरण्यू यमज दिग के राखिया अन्तर्हित हइलेन, अर्थात् उषा अदृश्य हइल । दिवा हइयाछे । विवस्वान् द्वितीया दार परिग्रह करिलेन अर्थात् सायंकाल आकाश के आलिङ्गन करिले Science of Language (1882) vol. II P. 556.

अतएव मक्षमूलरेर मते दिवा (वा सूर्य्य) ओ रात्रि के प्रथम ऋषिगण विवास्वान् (आकाश) ओ सरण्यू (प्रभातेर) यमज सन्तान यम यमीनाम दियाछेन । परे यम मृत्युर राजा हईले कि रूपे ? मक्षमूलर बलेन प्राचीन ऋषिगण जे रूप पूर्व दिग के जीवनेर उत्पत्ति स्थल मने करितेन, पश्चिम दिग के सेईरूप जीवनेर अवसान मने करितेन अर्थात् जीवनेर पथश्रम करिया परलोकेरपथ देखाईतेन । एहिरूपे यम परलोकेर राजा हय अनुभव उदय हइल । Science of Language (882) val. II. P. 562 एई वैदिक यम के लइया परे पुराणे जे समस्त गल्प सृष्ट हइयाछे ताहा आमरा जानि । किन्तु, प्राचीन इरानेओ एइ यम रूपान्तरे दृष्ट हयेन एवं तत् सम्बन्धी ओ गल्प रचित हइयाछिल ।

इरानीय पुस्तके ताहार नाम यिम तिनि प्रथम राजा एवं सत्यतार सृष्टिकर्त्ता बलिया परिचित । एवं पुण्यवान् मनुष्यगण ताँहार साक्षात् पाय । एवं ताँहार सहित परम उपास्य अहुरेर साक्षात् पाय एवं सुखे वास करे । एवं वेद जे रूप यमेर पिता विवस्वान्, इरानीय " अवस्थाय " सेइरूप जिमेर पिता त्रिवनूघत् । आमरा "अवस्था" नामक धर्म्मपुस्तक हइते एकटी अंश उद्धृत करिते छे ।

अहुर मजूद उत्तरदिलेन, हे जाराथस्त्र ! तोमार पूर्वे शोभनीय यिम नामक मर्त्येर सहित आमि प्रथमे कथा कहिया छिलाम, ताहाकेई आमि अहुरेर धर्म्म, जराथ्रस्तेर धर्म्म, शिक्षा दिया छिलाम । हे जाराथस्त्र ! आमि अहुर मजूद ताँहाके बलिया छिलाम जे हे विवनूघतेर पुत्र शोभनीय यिम ! तुमई आमार धर्म्मेर वाहक ओ प्रचार हओ । जेन्द अवस्था प्रथम फर्गद ।

परे अहुरर आदेश अनुसारे यिम एकटी "वर" नामक भूतक जात प्रस्तुत करेन तथाय केवल पुण्यात्मा लोक ओ उत्कृष्ट पशु वृक्षादि थाके । अवेस्तार यमपुरी ओ पुण्यात्मा जाइया सुखे वास करे पौराणिक यमपुरी ताहार ठीक विपरीत पापीदिगेर नरक । परे इराने एइ गल्प आरओ वाड़िते लागिले, एवं पारसीक प्रसिद्ध कवि फेर्दुसी ताहार रचित " शाहनामाय " यिमके यमशिद् नामे एक जन पराक्रान्त सम्राट् बलिया वर्णना करेन । एई यमशिद् जे प्राचीन ' अवस्थाय ' यिम एवं अवस्थाय यिम जे वेदेर यम ताहा असामान्य फरासिस पण्डित Burouf प्रथमे आविष्कार करेन । तिनिई प्रथमे देखाइया देन जे फेर्दुसीर ऐतिहासिक यमशिद् फेरुदीन ओ गर्शास्प आर केह नहे, जेन्द अवस्था यिम थ्रैतयन एवं केरेशास्प एवं जन्द अवस्थाय एइ तिन जन आदिम मनुष्य केह नहे ऋग्वेदेर यम त्रैतन एवं कृशाश्व । यमगाथा—ऋग्वेद १०—१४ सूक्त ।

यमसूक्त ॥

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनु पस्पशानम् । वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्यत ।

१० । १४ । १ । अथर्व० १८ । १ । ४६ । महीरिति,... हविषा सपर्य्यत ।

हे अन्तरात्मन् जीव ! (हविषा) शुद्ध और सत्यादिभाषणरूप हविसे (राजानम्+यमम्) अज्ञानरूप अन्धकार को विनष्ट कर ज्ञानरूप प्रकाश का दाता यम अर्थात् ईश्वरीय नियम जो धर्म्म है उस को (दुवस्यत) सेवो । वह यम कैसा है (प्रवतः) उत्तम कर्म्म करनेवाले मनुष्यों को (महीः) कर्म्मानुसार उत्तरोत्तर महान् स्थानों को (अनु+परेयिवांसम्) क्रमपूर्वक लेजाने वाला पुनः (बहुभ्यः) पुण्यकृत् बहुत पुरुषों के लिये (पन्थाम्+अनुपस्पशानम्) उत्तम मार्ग में विघ्न न डालने वाला अर्थात् पापियों के लिये ही विघ्न करता है पुण्यात्मा पुरुषों के लिये नहीं । पुनः (वैवस्वतम्) सर्व-मनुष्य-हितकारी पुनः (जनानाम्+संगमनम्) पुण्यात्मा पुरुषों से संगत अर्थात् सेव्यमान । ऐसे ईश्वरीय नियम को सेवो ॥ १ ॥

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः । २।

(यमः+प्रथमः) धर्म्म ही प्रथम अर्थात् मुख्य है । वही (नः) हमारे (गातुम्) मार्ग को (विवेद) जानता है (एषा+गव्यूतिः) यह धर्म्म-मार्ग किसी पुरुष से (न+अपभर्तवा+उ) अपहृत=विनाशित नहीं हो सकता । (यत्र+नः+पूर्वे+पितरः+परेयुः) जिस मार्ग पर हमारे पूर्वज पितर चलते थे (एनाः स्वाः पथ्याः अनु) इसी हितकारी निजपथ का अनुसरण (जज्ञानाः) जन्म लेनेवाले पुत्र-पौत्रादिक सन्तान भी करें । "गव्यूतिः पद्धतिः मार्ग इत्यर्थः । अपभर्तवै अप हर्त्तुं देवैर्मनुष्यैर्वा परिहर्त्तुं न शक्या । पथ्याः हितकराः" सायणः ॥ २ ॥

मातली कव्यैर्यमोऽङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः । यांश्च
देवा वावृधुर्ये च देवान् स्वाहाऽन्ये स्वधयाऽन्ये मदन्ति।३।अ०१८।

(मातली) मातृवत् रक्षक (बृहस्पतिः) वेदाचार्य्यवत् शिक्षक वह (यमः) धर्म्म (कव्यैः) ज्ञानी (अङ्गिरोभिः) अग्निहोत्रादिक कर्म्मानुष्ठायी और (ऋक्वभिः) ऋगध्यायी=वेदपाठी पितरों के साथ (वावृधानः) परम वृद्धि को प्राप्त होता है । (यान्+च) जिन कव्यादि तीनों प्रकार के पितरों को (देवाः+वावृधुः) परज्ञानी पुरुष बढ़ाते हैं और (ये+च) जो कव्यादि पितर प्रत्युपकार में (देवान्) देवों को बढ़ाते हैं (अन्ये) एक देवगण (स्वाहा) से (अन्ये) दूसरे पितृगण (स्वधया) स्वधा=निज धर्म्म से (मदन्ति) आनन्दित होते हैं। अथवा (कव्यैः) परम ज्ञानी पितरों के साथ वह धर्म्म (मातली) मातृवत् रक्षक रूप में (अङ्गिरोभिः) आग्नेय विद्याओं में निपुण पितरों के साथ (यमः) न्यायकारी रूप में (ऋक्वभिः) ऋग्वेदीय पितरों के साथ बृहस्पति अर्थात् आचार्य्य रूप में बढ़ता है ॥ ३ ॥

इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः । आ
त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व ।४।

अब साक्षात् धर्म्म को सम्बोधित करके कहते हैं (यम) हे धर्म्मराज ! आप (अङ्गिरोभिः+संविदानः) अग्निहोत्री आदि पितरों से संगत अर्थात् प्राप्त हैं अथवा जानने योग्य हैं (हि) जिस कारण आप को हमारे पितृगण सेवते हैं इस हेतु (इमम्+प्रस्तरम्) इस विस्तीर्ण महायज्ञ में (आ+सीद) सब प्रकार से आवें । और (कविशस्ताः) विज्ञानी पुरुषों से शस्त=प्रस्तुत=प्रयुक्त (मन्त्राः) वेदमन्त्र (त्वा+आ+वहन्तु) आप को यहां लावें (राजन्) हे प्रकाशस्वरूप धर्म्मदेव ! (एना+हविषा) हमारी इस श्रद्धाभक्ति से आप (मादयस्व) हम को प्रसन्न करें । जहां वैदिक-मन्त्र पढ़े विचारे जाते हैं वहां धर्म्म का आगमन होता है और इस धर्म्मतत्त्व को ज्ञानी ऋषि ही जानते हैं इस में सन्देह ही क्या ? ॥ ४ ॥

अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥ ५ ॥ अथ० १८

(यम) हे धर्म ! (यज्ञियेभिः) यज्ञार्ह (वैरूपैः) विविधरूप-संयुक्त (अंगिरोभिः) अग्निहोत्री आदि पुरुषों के साथ आप (आ+गहि) इस यज्ञमें आवें और (इह+मादयस्व) यहां सब को हर्षित करें मैं (विवस्वन्तम्+हुवे) सूर्य के गुण को भी गाता हूं (यः+ते+पिता) जो आप के पालक हैं हे धर्म ! (अस्मिन्+बर्हिषि+यज्ञे) आप इस ब्रह्मयुक्त यज्ञ में (आ+निषद्य) अच्छे प्रकार विराजमान होवें । वेदों में कहीं गुणी और कहीं साक्षात् गुण सम्बोधित हुआ है । विचारने की बात है कि जहां यज्ञार्ह पुरुष नहीं वहां धर्म्म भी नहीं । यज्ञों में यज्ञार्ह पुरुष क्या आते हैं क्या बैठते हैं, मानो, धर्म्म आते हैं धर्म्म बैठते हैं। धार्म्मिक पुरुष को आते हुए देख कर कह सकते हैं कि धर्म्म आ रहे हैं । ऐसे पुरुष को सम्बोधित कर सकते हैं कि हे धर्म्म ! आप यहां बैठें । यहां आप का आसन है यहां आप उपदेश दें इत्यादि अलङ्कार रूप से वैदिक भाव समझना चाहिये ॥ ५ ॥

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥६॥ अ० १८।१।५८

(नः+पितरः) हमारे पितर=रक्षक(अङ्गिरसः+नवग्वाः+अथर्वाणः+भृगव+सोम्यासः) अंगिरा, नवग्व, अथर्वा, भृगु और सोम्य हैं (वयम्) हम पुत्र-पौत्रादिक (यज्ञियानाम्) यज्ञार्ह परममान्य परमपूज्य (तेषाम्) उन पितरों की (सुमतौ) सुबुद्धि=सुसम्मति में सर्वदा (स्याम) वर्त्तमान रहें (अपि) और (सौमनसे) सौमनस्य के कारण (भद्रे) कल्याणप्रद पुण्यमार्गरूप धर्म में सदा (स्याम) स्थित रहें । ६ । (अङ्गिरा) आग्नेय विद्या में और अग्निहोत्रादिक कर्म में निपुण, (नवग्व) नवीन नवीन विद्याओं में जिनकी गति हो, (अथर्वा) अहिंसा-धर्म्म प्रचारक, (भृगु) प्रत्येक ज्ञान में परिपक्व इत्यादि भाव जानना । यहां भृगु आदि सामान्य नाम हैं ।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रानः पूर्वे पितरः परेयुः । उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥७॥ अ० १८

हे अन्तरात्मन् ! आप (पूर्व्येभिः) अनादिकाल से चले आते हुए (पथिभिः) वैदिक मार्गों से (प्रेहि+प्रेहि) गमन करें अवश्य इन्हीं मार्गों से चलें (यत्र+नः+पूर्वे+पितरः+परेयुः) जिन मार्गों पर पूर्व पितर चलते थे इन मार्गों पर (स्वधया+मदन्ता) स्वशक्ति से अथवा स्वभावतः तृप्त होते हुए (उभौ+राजानौ) दोनों राजा विद्यमान हैं । हे जीव ! आप (यमम्) (वरुणम्+च+देवम्) धर्म्म और वरणीय=स्वीकरणीय देव अर्थात् ईश्वर इन दोनों को (पश्यासि) देखो । ७ । इस मार्ग में धर्म्म और ईश्वर दोनों हैं अतः इसीसे चलो ।

संगच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्त्तेन परमे व्योमन् । हित्वायाऽवद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥८॥ अ० १८।

हे जीव (परमे+व्योमन्) हृदयरूप मनोहर स्थान में (पितृभिः+संगच्छस्व) प्राणों के साथ मिलो (यमेन+सम्) धर्म्म से (इष्टापूर्तेन) यज्ञादि कर्म्मों में मिलो (अवद्यम्+हित्वाय) पाप को त्याग (पुनः+अस्तम्+एहि) पुनः सर्व-व्यापक ईश्वर को प्राप्त होओ। इस प्रकार (सुवर्चाः) अति तेजस्वी हो (तन्वा+

संगच्छस्व) अपने शरीर अर्थात् ज्ञानस्वरूप शरीर से संगत होओ। अथवा हे जीव ! जिस कारण आप (यमेन) धर्म्म-कर्म-नियन्ता (इष्टापूर्तेन+सम्) इष्ट और आपूर्त से युक्त हैं अतः (परमे+व्योमन्+पितृभिः+संगच्छस्व) परमोत्कृष्ट स्थान में अर्थात् मुक्ति में स्थित पितरों से मिलो (अवद्यम्+हित्वाय+पुनः+अस्तम्+एहि) पाप को त्याग पुनरपि अपने स्थान अर्थात् कर्मानुसार प्राप्य गृह को आओ और (सुवर्चाः) तेजस्वी हो (तन्वा) अच्छे शरीर से (संगच्छस्व) संगत होओ अर्थात् कर्मानुसार पितरों के साथ मुक्तिसुख पा फिर इस संसार में उत्तम शरीर धारण करो। "अस्तं गृहनामैतत्" सा०॥

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोक मक्रन्। अ-होभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै॥ ९ ॥ अ० १८

(अतः) हे दुष्टस्वभाव अधर्म्म ! इस हृदयाकाश से (अपेत) अलग हो जा (वीत) दूर चला जा (विसर्पत+च) और कहीं दूर भाग जा (अस्मै) इस ध्यान शील जीव के लिये (पितरः) प्राणगण (एतम्+लोकम्+अक्रन्) यह स्थान बना रहे हैं और हृदयस्थ (यमः) धर्म वा ईश्वर (अद्भिः) व्यापक = निरन्तर (अहोभिः) दिनों (अक्तुभिः) रात्रियों से ध्यान समाधि के द्वारा (व्यक्तम्) मानो प्रकट हो (अवसानम्) परम शान्ति को (ददाति) देता है। ८। "वीत, वी गत्यादिषु अत्र गतिरर्थः। अवसानं स्थानम्" सा० इसके आगे १०, ११, १२ ये तीन मन्त्र यहां छोड़ दिये गए हैं "यम के दो कुत्ते" इस प्रकरण में इन तीनों का अर्थ देखिये।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्य-ग्निदूतो अरंकृतः ॥ १३ ॥ यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ अ० १८।२।४॥

हे मनुष्यो ! (यमाय) धर्म के लिये (सोमम्+सुनुत) सोम सम्पादन करो (यमाय) धर्म के लिये ही (हविः+जुहुत) हवन करो (ह) निश्चय यह (अग्निदूतः) अग्निप्रधान (अरंकृतः) अलंकृत (यज्ञः) यज्ञ (यमम्) धर्म को ही (गच्छति) प्राप्त

[illegible] मंत्र का भी समान अर्थ है ॥

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत [illegible] । स नो देवेष्वायमद् दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥ १४ ॥ यमाय घृत[illegible] राज्ञे हविर्जुहोतन । स नो जीवेष्वायमेद्दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥ अ० १८।२।३॥

हे मनुष्यो ! (यमाय) धर्म के लिये ही (घृतवत्+हविः+जुहोत) घृत युक्त पदार्थ हवन करो (प्रतिष्ठत+च) इससे जगत् में धर्म की प्रतिष्ठा करो । अथवा स्वयं प्रतिष्ठित होओ (सः) वह धर्म (नः+देवेषु) हमारे विद्वानों में (प्रजीवसे) प्रकृष्ट, धर्मयुक्त जीवन के लिये (दीर्घम्-आयुः) दीर्घायु (आ-यमत्) देवे ॥ १४ ॥ अथर्व का भी प्रायः अर्थ समान है ॥

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन । इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ १५ ॥ यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत । इ[illegible]म्० ॥ अ० १२ । २ । २ ॥

हे अग्निहोत्री पुरुषो ! (राज्ञे+यमाय) ज्ञानप्रकाशक धर्मकार्य्य के लिये (मधुमत्तमम्) अतिशय मधुर (हव्यम्+जुहोतन) हव्यपदार्थ परोपकाररूप कुण्ड में दो अब आगे धर्म के चलानेवाले पुरुषों को नमस्कार कहते हैं (पूर्वजेभ्यः) पूर्वज (पथिकृद्भ्यः) धर्म्ममार्ग बनानेवाले (पूर्वेभ्यः+ऋषिभ्यः) पूर्ण ऋषियों को (इदम्+नमः) यह मेरा नमस्कार है ॥ १५ ॥ अब आगे दिखलाते हैं कि वेद का मुख्य प्रयोजन क्या है ।

त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिद् बृहत् । त्रिष्टुब् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता ॥ १६ ॥ त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत् । त्रिष्टुब् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता ॥ अ० १८ । २ । ६ ॥

यह धर्म (त्रिकद्रुकेभिः) ऋग्, यजु और साम इन तीनों के साथ (पतति)

चलता है (षड्+उर्वीः) और छवों द्युलोक, पृथिवी, दिन, रात्रि, जल और ओषधियां (एकम्+इत+बृहत्) एक ही महान् धर्म्मके लिए प्रवृत्त होते हैं (ता+सर्वा+त्रिष्टुब्+गायत्री+छन्दांसि) वे सब त्रिष्टुब् गायत्री आदि छन्द (यमे+आहिता) यम में ही समर्पित हैं १६

इति यमादिनिरूपण प्रकरणं समाप्तम् ॥

पितर कौन हैं ? ॥

पितर और वेद—पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् । ऋ० १०।५३।४। अञ्जन्ति सुप्रयसं पञ्चजनाः । ९ । ९२ । ४ । जना यदग्निमयजन्त पञ्च १० । ४५ । ६ । इत्यादि अनेक ऋचाओं में मनुष्यों के नामों में से एक नाम पञ्चजन आया है । पञ्चजन अर्थात् पांच प्रकार के मनुष्य । निरुक्त अमरकोशादिकों में भी यह नाम आया है । अब शङ्का होती है कि वे पांच प्रकार के मनुष्य कौन हैं ? यास्काचार्य निरुक्त में कहते हैं "गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि इत्येके चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः ।" निरुक्त । ३ । ८ । गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस ये पांच प्रकार के मनुष्य हैं । औपमन्यव कहते हैं कि चार वर्ण और पञ्चम निषाद ये पांच भेद पाये जाते हैं इस कारण मनुष्य का नाम पञ्चमानव, पञ्चजन आदि है । इस प्रमाण से सिद्ध है कि जैसे गन्धर्व, देव, असुर और राक्षस मनुष्यों के भेद हैं वैसे ही पितर भी एक भेद है । यहां पितर शब्द जनक (पैदा करने वाला बाप) वाचक नहीं हैं । कदाचित् कोई यह शङ्का करे कि गन्धर्व देव आदि अलग २ योनियां हैं वैसे पितर भी एक पृथक् योनि है सो यह शङ्का यहां नहीं हो सकती है । क्योंकि मनुष्यवाचक "पञ्चजन" शब्द के अर्थ गन्धर्व पितर आदि पांच हैं न कि अन्य शब्द का । इससे सिद्ध है कि मनुष्य के ही भेद ये पांचों हैं । जैसे चार वर्ण और पञ्चम निषाद तद्वत् ।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रितः ॥ अथर्व० ११ । ९ । २७ ॥

उस स्रष्टा परमेश्वर की कृपा-कटाक्ष से कोई, देव, कोई पितर, कोई साधारण मनुष्य, कोई गन्धर्व, कोई अप्सराएं होते हैं और ये सूर्य चन्द्र आदिक देवों का भी प्रकाश उसीसे होता है । इस अथर्ववेद के प्रमाण से भी यही सिद्ध है कि केवल जनक

अर्थात् उत्पादयिता का ही नाम पितर नहीं किन्तु मनुष्यों के भेदों में से एक भेद पितर है । इनही पितरों के लिये पितृयज्ञ विहित है । पूर्वोक्त यास्काचार्य के व्याख्यान से सिद्ध है कि गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस ये पांचों मनुष्य के भेद हैं । अब आप समझ सकते हैं कि जैसे गुण, कर्म्म, स्वभाव के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण व्यवहार के लिये विभक्त हैं वैसे ही गुण कर्म्मानुसार गन्धर्व आदिक भी । जो गानविद्या में निपुण हों वे गन्धर्व "गां वाणीं धरन्तीति गन्धर्वाः " जो सब प्रकार से देश की रक्षा करें वे पितर "पान्ति पालयन्तीति पितरः" जो विद्वान् और वेदवित् हों वे देव । निकृष्टवर्ग के मनुष्य असुर और अतिनिकृष्ट मनुष्य राक्षस हैं । इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि मृतपुरुषों का नाम पितर कदापि नहीं । वेद के मन्त्र में यह विलक्षणता है कि "पितर उत्पन्न होते हैं" कहा गया है यदि मृतक का नाम पितर होता तो वैसा पद नहीं आता अतएव पितृयज्ञ वा पितृश्राद्ध मृतकश्राद्ध नहीं किन्तु जीवित श्राद्ध है ।

पितर और मनुस्मृति—क्या मनुस्मृति धर्म्मशास्त्र से सिद्ध होता है कि मृतपुरुषों का नाम पितर है ? नहीं । देखिये ।

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् । नागान् सर्पान् सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् । किन्नरान् वानरान् मत्स्यान् विविधांश्च विहङ्गमान् । पशून् मृगान् मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥ मनु० ॥ १ ॥ ३७ । ३९ ॥

मरीचि अत्रि आदिक ऋषियों ने यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग, सर्प, सुपर्ण और पितरों के पृथक् २ गणों को उत्पन्न किया इसी प्रकार किन्नर वानर, मत्स्य, विविधपक्षिगण पशु, मृग, मनुष्य, व्याल और ऊपर नीचे दांतवाले जीव उत्पन्न किये । ऋषियों ने इन सबों की कैसे सृष्टि की इसका वर्णन आगे होगा । यहां पर आप देखते हैं कि जैसे यक्ष, राक्षस, पशु, पक्षी आदि उत्पन्न किए गये हैं वैसे ही पितरों के गण भी बनाए गये हैं । (क) इससे सिद्ध है कि पितर वहां जनक-

वाचक नहीं (ख) एवं मृत पुरुषों का नाम नहीं । यदि मृत पुरुषों का नाम पितर यहां होता तो सृष्टि की आदि में पितृगण उत्पन्न किये गये ऐसा नहीं कहा जाता यहां पर कहा गया है कि पितरों के पृथक् २ गण ऋषियों से उत्पन्न किये गए । ये पितृगण कितने हैं, इनके क्या २ नाम हैं ये जिस २ ऋषि के पुत्र हैं इत्यादि भाव को आगे संक्षेप से कहते हैं यथाः—

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः । तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ १९४ ॥ विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः । अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥१९५॥ दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरग-रक्षसाम् । सुपर्णकिन्नराणाञ्च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥ १९६ ॥ सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः । वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥ १९७ ॥ सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरः सुताः । पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥ १९८ ॥ अग्निदग्धानग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा । अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥ १९९ ॥ मनुस्मृति ॥३॥

अर्थ—हैरण्य गर्भ मनु के जो मरीचि आदि पुत्र हैं । उन्हीं सब ऋषियों के पुत्र पितृगण हैं॥१९४॥ साध्यों के पितर विराट्-पुत्र सोमसद हैं । देवों के पितर मरीचिपुत्र अग्निष्वात्त हैं ॥ १९५ ॥ दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग, राक्षस, सुपर्ण, किन्नर के पितर अत्रिपुत्र बर्हिषद् हैं ॥ १९६ ॥ विप्रों के सोमप, क्षत्रियों के हविर्भुज, वैश्यों के आज्यप और शूद्रों के सुकाली पितर हैं ॥ १९७ ॥ कवि के पुत्र सोमप, अङ्गिरा के पुत्र हविर्भुज, पुलस्त्य के पुत्र आज्यप और वसिष्ठ के पुत्र सुकाली पितर हैं ॥१९८॥ अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त सोम्य ये सब विप्रों के पितर हैं ॥१९९॥

अब प्रश्न होता है कि ऋषियों के पुत्र पितृगण कैसे ? समाधान—यह प्रसिद्ध है कि वेदों के तत्त्ववित् पुरुष को ऋषि कहते हैं । और यह भी सर्वसिद्धान्त है कि वेदों को देख के ही जगत् के अखिल व्यवहारों को ऋषियों ने स्थापित किया है ।

"सर्वेषां तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" । मनु० १ । २१ । चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् । भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति । मनु० । १२ । ९७ । इत्यादि प्रमाणों से । सृष्टि की आदि में प्रथम रक्षा की ही बड़ी आवश्यकता थी । इस हेतु ऋषियों ने प्रथम रक्षा के लिये विविध प्रकार के रक्षक अर्थात् पितर उत्पन्न किये और उन सबों को कर्म्मानुसार अग्निष्वात्त अग्निदग्ध आदि नाम दिये । इन को ही एक सामान्य पदवी स्वधा भी दीगई जिसका वर्णन प्रथम बहुत कुछ होचुका है । यहां उत्पन्न करना शब्दार्थ बनानेके अर्थ में है जैसे यह पाठशाला बड़े २ विद्वानों को उत्पन्न करती है । ये गुरु अथवा आचार्य्य सहस्रों गुरु आचार्य्यों को उत्पन्न करते हैं । यह देश धार्म्मिक पुरुषों को उत्पन्न करता इत्यादिवत् । मनुस्मृति में इसी प्रकार की सृष्टि का वर्णन है । भागवतादि का भी यही भाव है अब वेदों का भी तात्पर्य्य मालूम हो सकता है । वेदों में गुणवाचक नाम विद्यमान हैं । जब आवश्यकतानुसार रक्षक बनाये गये तो वेदों को देख उन्हें पितर नाम दिये गये ।

क्या विष्णुपुराणादिकों से सिद्ध होता है कि मृत पुरुषों का नाम पितर है? नहीं । यहां देव, पितर, मनुष्य और असुर इन चारों की उत्पत्ति सुनाता हूं जिस से विस्पष्ट हो जायगा कि पितृशब्द यहां रक्षक है । यथा—

ततो देवासुरपितॄन् मानुषांश्च चतुष्टयम् । सिसृक्षुरम्भांस्येतानि स्वमात्मानमयूयुजत् ॥ २८ ॥ युक्तात्मनस्तमोमात्रा उद्रिक्ताऽभूत् प्रजापतेः । सिसृक्षोर्जघनात्पूर्वमसुरा जज्ञिरे ततः ॥ २९ ॥ उत्ससर्ज ततस्तान्तु तमोमात्रात्मिकां तनुम् । सा तु त्यक्ता ततस्तेन मैत्रायाभूद् विभावरी ॥ ३० ॥ सिसृक्षुरन्यदेहस्थः प्रीतिमाप ततः सुराः । सत्त्वोद्रिक्ताः समुद्भूता मुखतो ब्रह्मणो द्विज ॥ ३१ ॥ त्यक्ता सा तु तनुस्तेन सत्त्वप्रायमभूद्दिनम् । ततो हि बलिनो रात्रावसुरा देवता दिवा ॥ ३२ ॥

देव, असुर, पितर और मनुष्य ये चारों अम्भः (जल) कहलाते हैं इनको सृजन

करने की इच्छा करते हुए ब्रह्माजी ध्यान करने लगे। सब से प्रथम तामसी-मात्रा अर्थात् तमोगुणयुक्ता तनु उत्पन्न हुई। उस के जघन देश से असुरगण उत्पन्न हुए। तब ब्रह्मा-जी ने उस तामसी तनु का त्याग किया। वह परित्यक्ता तनु रात्रि होगई। पुनः ब्रह्मा ने अन्य सात्त्विकी तनु को धारण किया। तब मुख से सात्त्विक सुरगण उत्पन्न हुए। वह परित्यक्ता होने पर सत्त्व-प्रधान दिवस होगई। इसी कारण हे द्विज ! रात्रि में असुर और दिन में सुर बलिष्ठ रहते हैं ॥ ३२ ॥

सत्त्वमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम्। पितृवन्मन्यमान-स्य पितरस्तस्य जज्ञिरे ॥ ३३ ॥ उत्ससर्ज पितॄन् सृष्ट्वा ततस्तामपि स प्रभुः। सा चोत्सृष्टाऽभवत्संध्या दिननक्तान्तरस्थितिः ॥ ३४ ॥ रजो-मात्रात्मिकामन्यां जगृहे स तनुं ततः। रजोमात्रोत्कटा जाता मनु-ष्या द्विजसत्तम ॥ ३५ ॥ तामप्याशु स तत्याज तनुं सद्यः प्रजाप-तिः। ज्योत्स्ना समभवत् सापि प्राक्सन्ध्या याऽभिधीयते ॥ ३६ ॥ ज्योत्स्नायामेव बलिनो मनुष्याः पितरस्तथा। मैत्रेय सन्ध्यासमये तस्मादेते भवन्ति वै ॥ ३७ ॥ ज्योत्स्ना रात्र्यहनी सन्ध्या चत्वार्य्ये-तानि वै प्रभोः। विष्णुपु० १। ५।

तब पुनः ब्रह्माजी ने अन्य सात्त्विकी तनु धारण की। मनन करते हुए उस से पितृ-गण उत्पन्न हुए। उस शरीर को छोड़ दिया। वह सन्ध्या होगई। जो दिन और रात्रि के मध्य में रहती है। पुनः ब्रह्मा ने राजसी तनु धारण की उस से रजोगुणयुक्त मनुष्य उत्पन्न हुए। उस तनु को भी छोड़ दिया। वह ज्योत्स्ना होगई। इस कारण ज्योत्स्ना में मनुष्य और सन्ध्या में पितर बलिष्ठ होते हैं। ये चारों ज्योत्स्ना, रात्रि, दिवस और सन्ध्या चारों के समय हैं। इति।

इस विष्णुपुराणके जो देव और असुर हैं वे वेदके आर्य्य और दस्यु हैं। और मनुष्य और पितर क्रम से व्यवसायी और पालक हैं अर्थात् राजा और कृषक हैं। अथवा देव= ब्राह्मण। पितर=राजा। मनुष्य=वैश्य। असुर=शूद्र। इस क्रम से भी यहां घट सकता

है। जिस कारण पौराणिक समय में "शूद्र" एक निकृष्ट जाती मानी जाती थी अतः शूद्र के स्थान में असुर रक्खा है।

पितरो ब्रह्मणा सृष्टा व्याख्याता ये मया तव।
अग्निष्वात्ता बर्हिषदोऽनग्नयः साग्नयश्च ये।
तेभ्यः स्वधा सुते यज्ञेवेना वैधारिणी तथा। विष्णु १०। १०। १८।

अर्थ=पूर्वमें मैं कह चुका हूं कि ब्रह्मा ने पितरों को को सृष्ट किया। वे अग्नि-ष्वात्त, बर्हिषद्, अनग्नि, साग्नि आदि हैं इन सबों की स्त्री स्वधा है। जिस से वेना वैधारिणी दो सन्तान उत्पन्न हुए। अनेक पुराणों के प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं श्रीमद् भागवत का भी यही सिद्धान्त है। अन्यान्य पुराण भिन्न २ प्रकार से पितरों की उत्पत्ति कहते हुए इस में सब ही एक समान ही मत रखते हैं कि पितर सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए अनेक प्रसंगों में पहले भी इसको लिख आए हैं पुनरपि लिखा जायगा। विद्वान् लोग इसी दिग् दर्शन से पुराणों का सिद्धान्त समझें।

पितर और सांख्य शास्त्रः—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्य्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः। कारिका। ५८

इसकी व्याख्या में वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र पैत्र्य गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, और पैशाच ये आठ प्रकार दैव-सर्ग और पशु, मृग, पक्षी सरीसृप और स्थावर ये पांच तैर्य्यग्योन और मनुष्य एक ही प्रकार का सर्ग है। इस से भी सिद्ध है कि जैसी देवादि सृष्टि है वैसी ही पितृसृष्टि भी है। वह सृष्टि कौन है? रजक गणों की सृष्टि है॥

उपनिषदों में "स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः" तैत्ति० पितृलोक की भी चर्चा आई है। यहां व्याकरण की गुण, वृद्धि इत्यादि पारिभाषिक संज्ञावत् पितृलोक भी पारिभाषिक संज्ञामात्र है "दैवाः पितरो मनुष्या एतएव।। वागेव देवा मनः पितरः प्राणो

मनुष्याः । बृहदारण्यक । यहां आध्यात्मिक अर्थ में पितृशब्द है । इसी प्रकार देवयान पितृयाण आदि भी मरणानन्तर की दशासूचक है । इत्यादि औपनिषद प्रमाणों से भी मृतक अर्थ में पितर सिद्ध नहीं होता ॥

पितर कौन हैं ? इस पर अनेक सम्मतियां ॥

वसून् वदन्ति वै पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् । प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी । मनुस्मृतिः । वसवः पितरोज्ञेया रुद्राज्ञेया पितामहाः । प्रपितामहास्तथाऽऽदित्याः श्रुतिरेषा सनातनी । देवलः । वसुरुद्रादितिसुताः पितरः श्राद्धदेवताः । याज्ञवल्क्यः । विष्णुः पिताऽस्य जगतो दिव्यो यज्ञः स एव च । ब्रह्मा पितामहो ज्ञेयो रुद्रश्च प्रपितामहः । नन्दिपुराणे । मासाश्च पितरोज्ञेया ऋतवश्च पितामहाः । सम्वत्सरः प्रजानाञ्च स्रष्टृवेकः प्रपितामहः । आदित्यपुराणे । इत्यादि ।

अर्थ—मनुजी, वसुओं को पितर, रुद्रों को पितामह और आदित्यों को प्रपितामह कहते हैं । यही देवलाचार्य्य भी कहते हैं । वसु रुद्र आदित्य येही पितर श्राद्धदेव हैं ऐसा याज्ञवल्क्य कहते हैं । पिता विष्णु, पितामह ब्रह्मा और प्रपितामह रुद्र ऐसा नन्दिपुराण कहता है । मास पिता, ऋतु पितामह और सम्वत्सर प्रपितामह ऐसा आदित्य-पुराण कहता है ।

ये सब व्याख्यान सूचित कर रहे हैं कि श्राद्ध मृतपुरुषों से सम्बन्ध नहीं रखता है । कोई २ अज्ञानी पुरुष कहते हैं कि ये वसु रुद्र और आदित्य तीनों देव पितरों को अपने २ भाग पहुंचाया करते हैं । इस कारण ये तीनों क्रम से तीन पितर कहे गए हैं ॥ समाधान । ईश्वरीयनियमानुकूल ये सूर्य्य चन्द्र पृथिवी वायु आदि और आंख कान नाक आदि देवगण सेवा करनेके लियेही बनाए गए हैं । परन्तु ये सब अचेतन हैं । हमारी बातोंको यह नहीं सुनते हैं जिस प्रकार पृथिवी जल आदि से हम काम लेते हैं और वे स्वयं दे भी रहे हैं इसी प्रकार सूर्य्य आदि को भी जानो अब अग्निष्वात्त आदि शब्दों पर ध्यान दीजिये ।

अग्निष्वात्त आदि पितर कौन हैं ॥

आजकल पण्डितजन न स्वयं विचारते न वेदादि-शास्त्रों की पर्य्यालोचना करते हैं इस कारण धार्मिक जगत् अन्धकारावृत हो रहा है। विद्वज्जन प्रश्न करते हैं कि वेदों में अग्निष्वात्त और अग्निदग्ध पितरों को बुला कर भोजन देने की आज्ञा देखते हैं। अग्नि ने जिस का स्वाद लिया है या जिस को दग्ध किया है उसे अग्नि दग्ध और अग्निष्वात्त कहते हैं इस से मृत पितरों का श्राद्ध वेदों से सिद्ध है। परन्तु मैं कहता हूं कि इन विद्वानों का यह सन्देह सर्वथा अनुचित अविवेक मूलक है। ये लोग जो अर्थ करते हैं वह किसी स्मृतिसे वा पुराण से भी सिद्ध नहीं होता। मैं यहां प्रथम अनेक प्रमाण देता हूं ध्यान पूर्वक इन पर मीमांसा करें। प्रथम मनुजी प्रतिज्ञा करते हैं कि-"मनोर्हैरण्य-गर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः। तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः"। ३। १९४। हैरण्यगर्भ मनुजी के जो मरीचि आदि पुत्र हैं इन ही ऋषियों के पुत्र पितृगण हैं। इसी को आगे दिखलाते हुए कहते हैं यथा "अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोक विश्रुताः। ३।१९५ इस पर कुल्लूक टीका करते हैं यथाः—अग्निस्वात्ता मरीचेः पुत्रा लोक विख्याता देवानां पितरः। मरीचि नाम ऋषि के पुत्र अग्निष्वात्त नाम के जो पितर हैं वे देवों के पितर हैं। पुनः "अग्निदग्धानग्निदग्धान् काव्यान् वर्हिषदस्तथा। अग्निष्वात्ताश्च सोम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत्। मनु० ३। १९९ अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य वर्हिषद् अग्निष्वात्त और सोम्य नामके पितृगण जो हैं वे ब्राह्मणोंके पितर हैं। समीक्षा इस से यह सिद्ध हुआ कि अग्निष्वात्त का अग्नि जिस का स्वाद ले वह अग्निष्वात्त कहलाता ऐसा जो अर्थ करते हैं सो ठीक नहीं। क्योंकि इस मनु के प्रमाण से अग्निष्वात्त पितृगण तो मरीचि के पुत्र कहलाते हैं और सृष्टि की आदि में ही ये उत्पन्न किए गए। जैसे लोग अपने पुत्र का विविध नाम रखता है वैसे ही किसी मरीचि ऋषि ने भी अपने सन्तानों के नाम अग्निष्वात्त रक्खे। पीछे इन की पूजा होने लगी ऋषि के पुत्र पितृगण हैं। इस का भी क्या भाव है सो पितृशब्द पर ही लिखआए हैं।

इसी प्रकार अग्निदग्ध वगैरह भी किन्हीं ऋषियों के पुत्र हैं और अतिप्राचीन हैं क्योंकि मनुजी की ऐसी ही प्रतिज्ञा है और यहां कहा भी गया है कि अग्निदग्ध

अनग्निदग्ध आदि पितृगण ब्राह्मणों के पितर हैं । अब आप विचार सकते हैं कि यदि अग्निदग्ध शब्दार्थ केवल अग्नि में दग्ध ही होता तो ये आग्निदग्ध पितर ऋषि के पुत्र और ब्राह्मणों के ही पितर क्यों कहाते । क्या क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों के पितर अग्नि में नहीं जलाए जाते हैं । इससे सिद्ध है कि अग्निदग्ध शब्द का अर्थ जो आजकल किया जाता है वह नहीं है । इस पर खूब ध्यान रखना चाहिये कि अग्निदग्ध आदि पितर सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए यहां पर सब का एक मत है ।

पुराण और अग्निष्वात्त आदि पितृगण ।

पितृवन्मन्यमानस्य पितरस्तस्य जज्ञिरे । विष्णु १ । ५ । ३३ विष्णुपुराण कहता है कि पितृवत् मनन करते हुए ब्रह्माजी के अंग से पितृगण उत्पन्न हुए । वायु पुराण कहता है कि " पितृवन्मन्यमानस्तु पुत्रान् प्रध्यायतः प्रभुः " स पितृनुपपक्षाभ्यां रात्र्यहोरन्तरेऽसृजत्" । पुत्रों के लिये मनन करते हुए प्रभु ब्रह्माजी ने अपने दोनों पार्श्वों से रात्रि और दिन के बीच अर्थात् सायंकाल में पितरों को सृजन किया अब आगे वे कौन २ पितृगण हैं प्रसंग से कहते हैं । "पितरो ब्रह्मणा सृष्टा व्याख्याता ये मया तव१७। अग्निष्वात्ता बर्हिषदोऽनग्नयः साग्नयश्च ये । तेभ्यः स्वधा सुते जज्ञे मेनां वैधारिणीं तथा । १८ विष्णुपुराण १ । १० । ब्रह्माजीने पितरों का सृजन किया यह मैं आप से कह चुका हूं वे ये हैं–अग्निष्वात्त बर्हिषद, अनग्नि (अनग्निदग्ध) साग्नि (अग्निदग्ध) हैं इन सब पितृगणों को स्त्री स्वधा है । जिस से मेना और वैधारिणी दो कन्याएं हुईं । श्रीमद्भागवत भी यही कहता है यथा "अग्निष्वात्ता, बर्हिषद् सौम्याः पितर आज्यपाः । साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायिणी स्वधा " । ४ । १ । ६२ अग्निष्वात्त, वर्हिषद, सौम्य, आज्यप, साग्नि, और अनग्नि जो पितर हैं इन सबों की स्वधा एक पत्नी है अब पुराण के अनुसार विचार करें कि अग्निष्वात्त आदि पितृगण तो ब्रह्माजी के मानस-पुत्र हैं और मरीचि आदि के समान यह भी एक विशेष नाम है तब फिर आप अग्नि जिस को जलाती हुई स्वाद लेती है वह सब अग्निष्वात्त कहाता है अर्थात् जिस का २ शरीर दग्ध किया जाता है वह २ अग्निष्वात्त आग्निदग्ध है ऐसा अर्थ कैसे कर सकते हैं । यहां एक विषय का और भी पुराण विस्पष्ट करता

है। अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध ये जो दो शब्द वेदों और स्मृतियों में आते हैं इन के अर्थ में अल्पज्ञ पुरुषों को बड़ा सन्देह होजाता है जैसे आजकल भी हो रहा है इस कारण पुराण इन दोनों शब्दों के स्थान में "साग्नि" और "अनग्नि" शब्द का प्रयोग करता है जिस से सन्देह का निवारण होजाता है अग्निसहित को "साग्नि" और अग्निरहित को "अनग्नि" कहते हैं यही अर्थ अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध का है इस से भी विशद है कि अग्निदग्ध और अनाग्निदग्ध-शब्दार्थ जो आज किया जाता है सर्वथा अशुद्ध है। यदि कोई अनभिज्ञ पुरुष प्रश्न करे कि ये अग्निष्वात्त, अग्निदग्ध आदि पितर कोई दूसरे होंगे हम लोग जिन का श्राद्ध करते हैं वे ये ही होंगे जो अग्नि में दग्ध किये जाते हैं वा जिन को जलाती हुई अग्नि खाती है। यह प्रश्न सर्वथा अयुक्त है-क्योंकि हम पूर्व में दिखला चुके हैं कि इन ही पितरों का सम्बन्ध स्वधा से है और इसी स्वधा का उच्चारण सम्प्रति श्राद्ध में भी करते हैं। मनुस्मृति में भी इसी श्राद्ध प्रकरण में इन पितरों का वर्णन है। अतः प्रवाहरूप से आते हुए जो अग्निदग्ध अनग्निदग्ध पितर हैं इन का ही श्राद्ध है।

अग्निष्वात्त आदि के यथार्थ अर्थ।

कोई यह भी अर्थ करते हैं कि "अग्निना सुष्ठु आसमंताद् अत्तो भक्षितः" अग्नि से जो अच्छे प्रकार खायागया हो वह "अग्निष्वात्त"। परन्तु यह अर्थ नहीं हो सकता है क्योंकि "अद भक्षणे" धातु से जब क्त प्रत्यय होता है तब "अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति। २। ४। ३६। इस सूत्र के अनुसार जग्ध ऐसा प्रयोग होगा "अत्त" ऐसा नहीं। कोई कहते हैं कि "अग्निना स्वात्तः स्वादितः" अग्नि से स्वात्त अर्थात् स्वादित को अग्निष्वात्त कहते हैं। यह भी कथन ठीक नहीं क्योंकि क्त प्रत्यय से स्वादित बनेगा, स्वात्त नहीं यदि कहो कि इस को आर्षप्रयोग मानेंगे तो सो भी ठीक नहीं क्योंकि जब अन्य प्रकार से सिद्ध होसक्ता है तब आर्ष प्रयोग मानना सर्वथा अयोग्य है। एवमस्तु इस का सत्यार्थ और साधनिका सुनिये। "अग्नि+सु+आत्त" ये तीन पद हैं। आ पूर्वक दा धातु से क्त प्रत्यय करने पर अच उपसर्गात्तः। ७। ४। ४७ इस सूत्र से आत्त बन जाता है जब दा धातु में "आ" उपसर्ग लगता है तब इस का अर्थ ग्रहण करना

होता है जैसे आददाति, आदान आदि । अतः आत्त शब्दार्थ "गृहीत" है "सुष्ठु आत्तो गृहीतोऽग्निर्येन स अग्निष्वात्तः" जिसने अच्छे प्रकार अग्नि को ग्रहण किया है उसे अग्निष्वात्त कहते हैं । वाहिताग्न्यादिषु २ । २ । ३७ । इस सूत्र के अनुसार क्तान्त को परनिपात होजाता है अर्थात् स्वात्ताग्नि ऐसा न हो कर अग्निष्वात्त बन गया है । इस का आशय यह हुआ कि अग्निहोत्रादि कर्म्मों में अथवा आग्नेय अस्त्र शस्त्रादि कों में अथवा आग्नेय विद्या में जो निपुण हो उसे अग्निष्वात्त कहते हैं येही अर्थ सर्वत्र घटित होता है । अथवा "यदि" "अग्निनास्वात्तः स्वादित इति अग्निष्वात्तः" ऐसा ही समास करें और स्वात्त को आर्ष मानें तब भी आप यहां सचमुच अग्निदग्ध अर्थ नहीं कर सकते हैं क्योंकि ये सब ऋषि के वा ब्रह्मा के मानस पुत्र माने गए हैं । इस कारण "अग्नि से स्वात्त अर्थात् प्रतिक्षण अग्निहोत्रादि–अग्नि-सम्बन्धी कर्म्म करने के कारण, मानो, अग्नि इस का स्वाद ले रहा है अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म्म में जो बड़ा ही तत्पर है ऐसा ही लाक्षणिक अर्थ करना पड़ेगा ।

अब रह गया "अग्निदग्ध" शब्द । सो हम पाहिले कह चुके हैं कि इसी शब्द के स्थान में 'साग्नि' प्रयोग पुराण करता है इसहेतु अग्निहोत्रादिक कर्म करने वाले का ही नाम अग्निदग्ध भी है और यहां भी लाक्षणिक अर्थ करना चाहिये । जैसे विद्या-व्रतस्नात, स्नातक, निष्णात आदि । निष्णात शब्द का अर्थ अच्छे प्रकार स्नान किया हुआ पुरुष है । परन्तु निपुण अर्थ में इसका प्रयोग देखते हैं । स्नातक का अर्थ स्नानकरनेवाला । परन्तु परमज्ञानी संन्यासी आदि स्नातक कहाते हैं । इसी प्रकार विद्यास्नात, व्रतस्नात उस पुरुष को कहते हैं जिसने ब्रह्मचर्य धारण कर विद्याध्ययन किया है जो ज्ञानरूप महासागर में वा विद्यारूप महासमुद्र में स्नान करता है वह स्नातक आदि कहलाता है । यहां सर्वत्र लाक्षणिक अर्थ हैं । इसी प्रकार जो अग्निहोत्रादि शुभ कर्म में वा अग्निविद्या में अथवा अग्निवाच्य ईश्वरीय ज्ञान में अपने तन, मन, धन लगा तपस्या से अपने शरीर को जला देता है उसे अग्निदग्ध कहते हैं और इसके विपरीत को अनग्निदग्ध । इस अर्थ में उदाहरण भी विद्यमान है । "विदग्ध" पण्डित ज्ञानी चतुर आदि पुरुष को कहते हैं यदि यहां केवल आलर्थ

लिया जाय तो जो अच्छे प्रकार आग में जल गया हो उसे विदग्ध कहना चाहिये । परन्तु सो नहीं कहते किन्तु ज्ञान और विद्या की प्राप्ति करने में जो अपने को जलाता है उसे "विदग्ध" कहते हैं यहां पर भी विदग्ध शब्दार्थ लाक्षणिक है सो जैसे विदग्ध शब्द का अर्थ पण्डित होता है वैसे ही अग्निदग्ध शब्द में दग्धशब्द निपुणार्थक है । इसके ये उदाहरण हैं "विश्वास-प्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता । अङ्कमारोप्य सुप्तं हि हत्वा किं-नाम पौरुषम् " । हितोपदेश । विदग्धशब्द के ऊपर शब्दकल्पद्रुम कहता है "विदग्धः नागरः" इति त्रिकाण्डशेषः । यथा देवीभागवते । "विदग्धाया विदग्धेन संगमो गुण-वान् भवेत् " निपुण इति त्रिकाण्डशेषः । लिप्तं न मुखं नाङ्गं न पक्षती चरणाः परा-गेण । अस्पृशतेव नलिन्या विदग्धमधुपेन मधु पीतम् ॥

निपुणतासूचक अग्नि और जल ॥

यहां स्मरण रखना चाहिये कि वेदों में निपुणतासूचनार्थ अग्नि और जल दोनों से उपमा दी गई है । जैसे कहें कि "ये पुरुष शास्त्र में परिपक्व अथवा निष्णात हैं" इस वाक्य का अर्थ "शास्त्र में बड़े निपुण हैं" ऐसा होगा उदाहरण के लिये **"यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्**.........**स माधीरः पाकमत्रा विवेश"** इस में आए हुए 'पाक' शब्दार्थ यास्काचार्य करते हैं **"पक्तव्यो भवति विपक्वप्रज्ञ आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे** " निरुक्त नै० ३ । १२ । जिसकी प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि विपक्व होगई उसे 'पाक' कहते हैं । पच् धातु अग्नि से सम्बन्ध रखता है जिससे 'पाक' बना है पुनः—"पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः । अतप्त-तनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद् वहन्तस्तत्समाशत " । ऋ० ९ । ८३ । १ । (ब्रह्म-णस्पते) हे वेदाधिपते ईश्वर ! (ते+पवित्रम्+विततम्) आपका पवित्र शोभन पद सर्वत्र विस्तृत है आप (प्रभुः) सब के प्रभु हैं । पुनः आप (विश्वतः+गात्राणि+प-र्येषि) समस्त ब्रह्माण्डरूप शरीरों के चारों तरफ भीतर बाहर सर्वत्र गमन करते हैं । "अतप्ततनूः" हे भगवन् ! सत्यादि व्रतों से जिसकी तनु तप्त अर्थात् दग्ध नहीं हुई है अतएव (आमः) अपरिपक्व वह पुरुष (न+तत्+अश्नुते) आप के उस पवित्र पद को नहीं पा सकता है क्योंकि जो (शृतासः+वहन्तः) शृत अर्थात् ज्ञान में

खूब पके हुए हैं और यज्ञादि वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करते हुए हैं। (इत्+तत्+समाप्त) वे ही उस को पासकते हैं। यहां "तप्ततनू" का अर्थ यथार्थ रूप से आग में जिसने शरीर को दग्ध कर दिया है यह नहीं है। एवं "श्रा पाके" से शृत बनता है इसका भी भाव यह नहीं है कि जो यथार्थ में दाल भात शाक के समान आग में पका हुआ हो। किन्तु ज्ञानरूप-अग्नि से ही तात्पर्य है ज्ञान को अग्नि से उपमा दी गई है "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्" इत्यादि। जैसे यहां 'तप्त' और 'शृत' जो दग्धार्थक हैं ज्ञानरूप-अग्नि से तात्पर्य रखते हैं वैसे ही अग्निदग्ध में दग्ध को और अग्निष्वात्त में स्वात्त को जानो। पुनः "**अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः**·········**ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे**" कोई विद्वान् ह्रद=सरोवर के समान दीखते हैं। यहां ह्रद की उपमा दी गई है पूर्व में कह आए हैं कि निष्णात आदि शब्द निपुणार्थ हैं पुनः भृगु, अङ्गिरा, जमदग्नि आदि शब्द इसी अर्थ को सूचित करते हैं। भृगु के विषय में कहा जाता है कि "अर्चिषि भृगुः सम्बभूव" नि० नै० ३। १७॥ अर्चि अर्थात् अग्निज्वाला के निमित्त भृगु उत्पन्न हुए अर्थात् आग्नेयविद्याप्रचारार्थ ही भृगु ने जन्म धारण किया 'अंगिरा' यह अग्नि का भी नाम है। परन्तु ऋषि भी एक अंगिरा हैं। अग्नि-विद्या में निपुण होने के कारण से ही वे अंगिरा कहलाते हैं। इसी प्रकार जमदग्नि परशुराम आदिकों को जानो। ये सब अग्निवंशी इसी कारण कहाते हैं। अज्ञानी समझते हैं कि ये साक्षात् अग्नि से उत्पन्न हुए हैं। वेदों में भृगु, अंगिरा, जमदग्नि आदि किसी खास व्यक्ति के नाम नहीं जो अग्निविद्या में निपुण हों वे सब ही भृगु, अंगिरा आदि कहलाने के अधिकारी हैं। हां, वैदिक समय में वेदों को देख और तदनुसार अपने में गुण स्थापित कर किन्होंने अपने नाम भी भृगु आदि रक्खे हों यह संभव है। 'भृगु' 'भ्रस्ज पाके' से बनता है। ये सब नाम हमें सूचित करते हैं कि यहां लाक्षणिक अर्थ है। इसी प्रकार अग्निष्वात्त, अग्निदग्धादि शब्द जानो। अब वेदों में जहां अग्निदग्ध शब्द आया है उस पर विचार कीजिये।

[illegible] अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।

तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व॥ ऋ० १०।१५।१४

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति। यजु० १९।६०
ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम्। अ०

तीन वेदों से यहां मन्त्र उद्धृत हुए हैं। प्रथम आप देखते हैं कि ऋग्वेद में अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध पद आए हैं। अथर्व में भी ऐसे ही वे दोनों पद हैं। परन्तु यजुर्वेद में इन दोनों की जगह में अग्निष्वात्त और अनग्निष्वात्त पद हैं। इस से सिद्ध है कि अग्निष्वात्त और अग्निदग्ध एकार्थक हैं। पुराणों में—" अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः। साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायिणी स्वधा। भा०। अग्निष्वात्ता बर्हिषदोऽनग्नयः साग्नयश्च ये। " वि० पु०। इकट्ठे ही पितरों को गिनाते हुए अग्निष्वात्त, साग्नि और अनग्नि तीनों कहते हैं। इस तुलना से समझ सकते हैं कि साग्नि पद " अग्निदग्ध " के स्थान में प्रयुक्त हुआ है। अतः पुराणों के अनुसार भी अग्निदग्ध का अर्थ ' साग्नि ' है। भाव यह है कि पुराण भी दग्धशब्दार्थ यथार्थ में ' अग्नि में जलायाहुआ ' नहीं करता है। इसी प्रकार मनुस्मृति की भी सम्मति है। इस से सिद्ध है कि जो अग्निहोत्रादि कर्म्म में निपुण हैं वे अग्निदग्ध, अग्निष्वात्त आदि हैं। यदि कहो कि " यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः" शतपथ। २। इस शतपथ के वचन से जिस को अग्नि दहन करती हुई स्वाद ले उसे ' अग्निष्वात्त ' कहते हैं ऐसा सिद्ध होता है। समाधान। यदि आप इस सम्पूर्ण प्रकरण को देख लेवें तो सन्देह नहीं रहे। यहां तीन प्रकार के पितरों को याज्ञवल्क्य वर्णन करते हैं। सोमवान्, बर्हिषद् और अग्निष्वात्त।

तद् ये सोमेनेजानाः ते पितरः सोमवन्तः। अथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदः। ये ततो नान्यतरच्चन यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः। एत उ ते ये पितरः। शतपथ०

... सोमवान् पितर वे हैं जो सोमयज्ञ करते हैं। बर्हिषद पितर वे हैं जो अन्नों को पका के गरीबों को देके उत्तम लोक को जय करते हैं और जो न तो सोमयाग और

न पक्वान्नदान करते हैं किन्तु जिन को दहन करती हुई अग्नि स्वाद लेती है उन्हें 'अग्निष्वात्त' कहते हैं, ये ही पितर हैं। यहां देखते हैं कि मुरदों का वर्णन नहीं है किन्तु पञ्चयज्ञ से लेके सोमयज्ञ तक करने वाले को सोमवान् कहा है और प्रधानतया दानी को बर्हिषद और जो दानादिकों को अच्छे प्रकार न करके केवल अग्निहोत्र में ही लगे हुए हैं वे अग्निष्वात्त। जिस हेतु वे प्रतिदिन अग्निहोत्र करते हैं अतः कहा गया है कि, मानो, इन को अग्नि स्वाद लेती है। अथवा अग्निविद्या के प्रचार में लगने के कारण, मानो, अग्नि इन का स्वाद लेरही है। इत्यादि भाव जानना। यदि ऐसा अर्थ न किया जाय तो क्या सोमवान् और बर्हिषद् पितर अग्नि में नहीं जलाए जाते हैं। जलाने के समय क्या इन को अग्नि स्वाद नहीं लेती है। यदि कहो कि जिन्होंने संसार में कुछ शुभ कर्म्म नहीं किया किन्तु जो जन्म लेके पुनः मर गए और अग्नि में जला दिये गए हैं उन्हें 'अग्निष्वात्त' कहते हैं तो यह कथन ठीक नहीं क्योंकि जो ऐसे पुरुष हैं उन से काम ही क्या हो सकता है। ऐसे कुकर्म्मी अथवा अकर्म्मी को यज्ञ में बुलाने की विधि ही क्यों पाई जायगी। सृष्टि की आदि में ऐसे अकर्म्मण्यों को ऋषि उत्पन्न ही क्यों करेंगे। वेदों में इनकी इतनी प्रतिष्ठा ही क्यों होती। इससे सिद्ध है कि ये 'अग्निष्वात्त' कोई महान् पितर हैं। एवमस्तु अब आगे चलिये। और भी देखिये। आत्मा तो न दग्ध, न छिन्न, न क्लिन्न, न शुष्क न और कुछ होता और न मरने के अनन्तर अपने मृत शरीर के साथ ही चिता पर अपने को ही जलाता है। फिर शव अर्थात् मृतशरीर से आत्मा का सम्बन्ध ही क्या रहा। शरीर जलाया जाय या न जलाया जाय। इस से आत्मा का कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। हां, जीवद्दशा में यदि शरीर ब्रह्मचर्य्यादिक व्रतों से जलाया जाय तो नि सन्देह आत्मा को बड़ा लाभ पहुंचता है। अतः उन शब्दों से जीवत् पितरों का ग्रहण है मृतकों का नहीं। एवं वेदों में इनकी जो प्रशंसा है वह भी सार्थक होगी।

निखात आदि शब्द।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥ अथर्व०१८।२।३४॥

निखात, परोप्त, दग्ध, उद्धित आदि जो पितर हैं उन सब पितरों को हविष्यान्न भोजन के लिये ऐ अग्निदूत ! बुलाओ । जब पूर्वोक्त वर्णन से सिद्ध होचुका कि अग्निदग्ध, अग्निष्वात्त आदि शब्द स्नातकादिवत् लाक्षणिक हैं तब यहां पर भी लाक्षणिक ही अर्थ लिया जावेगा । जो शुभकर्म्म करने में अपने को गाड़ दिया है वह निखात । जिसने अच्छे प्रकार विद्यारूपबीज को बोया है वह " परोप्त " जिसने तपश्चरण में शरीर जला दिया है वह दग्ध जिसने गिरते हुए को उठाया है वह उद्धित । अथवा इस को यों भी लगा सकते हैं कि जो पुरुष ऋषियों के द्वारा परोपकाररूप क्षेत्र में गाड़ा गया है वह निखात जो अच्छे प्रकार छींटा गया है वह परोप्त । जो वेदाध्ययनरूप अग्नि में दग्ध किया गया है वह दग्ध और जो सब के हित में लगाया गया है वह उद्धित । क्योंकि मन्वादिकों के प्रमाणों से सिद्ध है कि पितृगण ऋषियों के पुत्र हैं अर्थात् ऋषियों के बनाये हुए हैं । एक बात यह भी ध्यान में रखने की है कि जब वेदों के अन्यान्य मन्त्रों से मृतकश्राद्ध सिद्ध नहीं है तब केवल इस मन्त्र को मृतकपरक कैसे लगा सकते हैं । इसी प्रकार सोम्य=सोमसम्पादी अर्थात् सोमयज्ञादि करनेवाले । सुकाली=विद्यादिक के उपार्जन से जिसने अपने समय को अच्छा बना लिया है । नवग्व=नवीन २ विद्याओं में जिसकी गति हो अथवा नूतन विद्या का आविष्कर्त्ता हो इत्यादि अर्थ जानना । पितृशब्द प्रायः बहुवचनान्त क्यों आते हैं ? प्रायः आपने [illegible] है और ' पितरः सोम्यासः ' ' बर्हिषदः पितरः ' ' अग्निष्वात्ताः पितरः ' ' अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ' इत्यादि प्रयोगों में देखते हैं कि पितृवाचक शब्द प्रायः बहुवचनान्त है । इस से सिद्ध होता है कि सोम्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त, अङ्गिरा, भृगु, अथर्वा आदि शब्द गणद्योतक हैं अर्थात् एक २ व्यक्ति के नाम नहीं । इसी कारण "पितृणां च पृथक् गणान्" इत्यादि मन्वादि वाक्यों में गण-शब्द का प्रयोग है । इति ।

पितर और दक्षिणदिशा ।

" आच्याजानु दक्षिणतः " ऋ० १० । १५ । ६ । " दक्षिणा-यज्ञमभिनक्षमाणाः " १० । १७ । ९ । इत्यादि वैदिक वाक्यों में और " विसृज्य ब्राह्मणां- [illegible] शुचिः । दक्षिणां दिगमाकांक्षन् याचेतेमान् वरान् पितॄन् " इत्यादि

मन्वादि वाक्यों में पितरों का दक्षिण दिशा से सम्बन्ध देखते हैं। क्यों? इस का भी
कारण अब विस्पष्ट है। पूर्व में लिख आए हैं कि वर्ष के दक्षिणायन समय से पितरों
की उपमा दीगई है। इस समय जैसे सूर्य्य घटते हुए भासित होता है। ऋतु शीतक
होने लगती है। ऐसी ही दशा पितरों की भी होती है। अतः वेदों में दक्षिण दिशा को
जाते हुए सूर्य्य के समान पितृ-गण कहे गए हैं। केवल दक्षिण दिशा से तात्पर्य्य नहीं।
और दूसरा कारण इस में यह है कि आयु आदि में छोटा पुरुष अपने से बड़े पुरुष
को अपने दहिने तरफ बिठाता है क्योंकि जैसे इस शरीर में दक्षिणबाहु बलिष्ठ
और मुख्य और वाम-बाहु अबल और गौण है तद्वत् अपने से बड़े को मुख्य और
अपने को गौण समझना चाहिये इसी स्वाभाविक नियमानुसार बड़े को सर्वदा दक्षिण
और आसन दिया जाता है। चूंकि पितर सर्वश्रेष्ठ हैं अतः यज्ञ करते हुए पुत्र-
पौत्रादिकों के दक्षिण भाग में सर्वदा पितृ-गण बैठाए जाते थे। यहां पर भी केवल द-
क्षिण दिशा से तात्पर्य्य नहीं था यजमान के दक्षिण अंग से अभिप्राय था। और भी,
पूर्व समय में पूर्वाभिमुख हो प्रायः लोग यज्ञ किया करते थे। इस अवस्था में यज्ञकर्ता
का दक्षिणबाहु भी दक्षिण दिशा में रहेगा। अतः पूर्वोक्त नियमानुसार सर्वदा पितरों का
आसन यजमान की दक्षिण दिशा में और देव अर्थात् बालयुवकादिक गणों का उत्तर-
दिशा में होगा और यजमान बीच में रहेगा। यह तो वृद्ध पितरों का सम्बन्ध दिखलाया
गया। अब रक्षक पितरों में भी घटाइये। आषाढ़ से सूर्य्य दक्षिण होने लगता है।
इसी समय से प्रायः वर्षा का आरम्भ होता है। गृहस्थ लोग खेती करने लगते हैं।
जो जहां रहते हैं वे वहां ही रह जाते हैं एक स्थान से दूसरे स्थान जाने में बड़ी क-
ठिनाई होती है। नदी बहुत बढ़ने लगती है इत्यादि कारण-वश रक्षक-पितरों की देश
में शान्ति के लिये बड़ी आवश्यकता आ पड़ती है। इस हेतु सूर्य्य को दक्षिण होते ही
रक्षक-पितृ-गण अपने २ कार्य्य पर नियत हो जाते थे अतः पितरों की दिशा दक्षिण
कही गई। और भी, प्रायः सूर्य्य के दक्षिणायन में ही युद्धयात्रा भी हुआ करती थी
आश्विन-शुक्ल-पक्ष-दशमी को अभीतक लोग युद्ध-यात्रा करते हैं। कहा जाता है कि राम-
चन्द्रजी ने इसी दशमी को लङ्का पर चढ़ाई की थी। युद्धार्थ, अग्निष्वात्त, अथर्वा, अ-

क्रिया, भूप और देशाभिमानी सेनापति, सेनाध्यक्ष, अश्वारोही, गजारोही आदि पितरों की कितनी आवश्यकता आ पड़ती थी, आप लोग अनुमान कर सकते हैं। एवं दक्षिणास्थ सूर्य्य को लक्ष्य कर वानप्रस्थाश्रम भी दक्षिण दिशा की ओर बनाते थे अत एव रामचन्द्र के समय में भारतवर्ष की दक्षिण दिशा में अनेक आश्रम पाये जाते थे। इत्यादि बहुश: कारणवश सूर्य्योद्देश से पितृदिशा दक्षिण मानी गई थी केवल दक्षिण-दिशा से तात्पर्य्य नहीं था। धीरे २ लोग सचमुच दक्षिण दिशा को पितृसम्बन्धी मानने लगे। पुराणों के अनुसार भी क्या पितर मरने पर देवलोक नहीं जाते हैं यदि जाते हैं तो पितर उत्तर भी रहते हैं ऐसा मानना पड़ेगा। यदि कहो कि "दक्षिणादिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः" यहां तो मृत अथवा नित्य पितर ही प्रतीत होते हैं। नहीं। यहां पर भी मृत पितरों का ग्रहण नहीं है। हां! नित्य-पितरों का ग्रहण है। नित्यपितर कौन? प्रवाहरूप से जो रक्षा का प्रबन्ध है प्रवाहरूप से जो एक के बाद दूसरे पितर होते आते हैं ये ही पितर नित्य कहाते हैं कोई खास व्यक्ति नित्य नहीं। जैसे आदि-सृष्टि से पठनपाठन चल रहा है इस अवस्था में अध्यापकों को नित्य शाश्वत कह सकते हैं। ऐसा प्रयोग होता है और कर सकते हैं कि अध्यापक हमेशे से चले आते हैं। इसी प्रकार पितर (रक्षक) भी सर्वदा से चले आते हैं यही पितरों का नित्यत्व है। अभी कह चुके हैं कि सूर्य्य दक्षिण होने पर पितरों की कितनी आवश्यकता है अतः पितर दक्षिण के इषु माने गये हैं। अथवा यहां पितृ-शब्दार्थ ऋतु है। "ऋतवः पितरः" शतपथ० २। "षडृतूंश्च नमस्कुर्य्यात् पितॄनेव च मन्त्रवित्" मनु० ३। २१७। इत्यादि प्रमाण से पितृशब्द ऋतुवाचक भी होता है। अब जैसे व्यवहारार्थ सूर्य्य का उदय अस्त मानते हैं। दिन की गणना रविवार से, वर्ष का आरम्भ चैत्र-शुक्लपक्ष से करते हैं वैसे ही ऋतु की गणना वसन्त से है। माघ मास से विस्पष्टतया सूर्य्य उत्तरायण होता हुआ भासता है और करीब इसी मास से वसन्त का आगमन भी होजाता है। इसी कारण वसन्तपञ्चमी माघ में ही होती है। इससे सिद्ध हुआ कि ऋतुराज वसन्त की उत्पत्ति का कारण मानो दक्षिण दिशा है और वसन्त होते ही [illegible] ऋतु [illegible] होती है अतः पितर जो वसन्त ऋतु

वह मानो इषु है । इषु से साधु की रक्षा दुष्ट का हनन दोनों होता है । इत्यादि भाव जानना । इस प्रकार धीरे २ पित्र्य-कर्म्म सब ही दक्षिणा-संस्थ होने लगे ।

"पितर और प्राचीनावीती" ॥

यह विधि भी जीवत्पितृ-श्राद्ध को दरसाती है । मनुजी कहते हैं "उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः । सव्ये प्राचीन-आवीती निवीती कण्ठ-सज्जने" अ० २ । अर्थात् पूर्व-काल में यज्ञोपवीत को तीन प्रकार से धारण करते थे । एक तो दहिना तरफ लटकाना दूसरा बामा तरफ लटकाना तीसरा केवल कण्ठ में ही रखना । यह एक साधारण नि-यम था कि ब्रह्मचर्य्य और गार्हस्थ्य आश्रम में जनेऊ को दहिना तरफ लटकाए हुए रहते थे जैसा आज कल लोग रखते हैं उन्हें "उपवीती" और वानप्रस्थाश्रम में उसको बामा तरफ लटकाते थे उन्हें "प्राचीनावीती" कहते थे अतः वन में रहने के कारण पितृ-गण सर्वदा प्राचीनावीती रहते थे । अतएव शतपथादि ग्रन्थों में "अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्य उपासीदन्" पितरों के विशेषण में 'प्राचीनावीती' शब्द प्रयुक्त हुआ है । इसका कारण यह था कि यज्ञोपवीत एक प्रकार से कर्म्म-सूचक चिन्ह है दक्षि-णाङ्ग के समान जब तक बल-वीर्य्य का कार्य्य साधते थे तब तक तो उपवीती रहते थे और जब वामाङ्ग-समान शिथिल होजाते थे उस समय वानप्रस्थ में जा प्राचीनावीती हो जाते थे इस से सूचित करते थे कि अब से मेरा सब कार्य्य वामाङ्गवत् शिथिल-प्रायः हो रहा है । यह संकेत केवल जीवतों में ही घट सकता है मृतकों में नहीं । अतः पितृयज्ञ जीवत्पितृयज्ञ है इस में सन्देह नहीं । जब मृतक श्राद्ध होने लगा तब से इसी कारण सव्यापसव्य का बड़ा बखेड़ा खड़ा हुआ और "प्राचीनावीतिना सम्यगप सव्यमतन्द्रिणा" पित्र्यमानिधनात्कार्य्यं विधिवद्दर्भपाणिना" । सव्यं बाहुं समुद्धृत्य दक्षि-णे तु धृतं द्विजाः । प्राचीनावीतमित्युक्तं पित्र्ये कर्म्मणि योजयेत्" इत्यादि शतशः श्लोक बन गए । इति संक्षेपतः ॥

पितृ-याण से क्या आशय है ?—यह श्राद्ध से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता अतः इस पर लेख करना व्यर्थ प्रतीत होता है । तथापि कतिपय भद्र पुरुष अनेक सन्देह इसके बारे में उठाते हैं अतः अति संक्षेप यहां लिखते हैं "पितृयाणं पन्था

जानाति य एवं वेद अथर्व० ८। इत्यादि वेदों में और उपनिषद् प्रभृति ग्रन्थों में पितृयाण और देवयान इन दो शब्दों के प्रयोग बहुत हैं। एवम्—

द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुतमर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरञ्च ॥ य०१९।४७॥

(मर्त्यानाम्+ द्वे+स्रुती+अहम्+अशृणवम्) मर्त्य अर्थात् मरणशील प्राणियों के दो मार्ग मैं सुनता हूं अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग। वे दो मार्ग कौन हैं? सो स्वयं वेद कहता है (पितॄणाम्+उत+देवानाम्) पितरों का एक मार्ग और देवों का दूसरा मार्ग अर्थात् पितृमार्ग और देवमार्ग। (पितरम्+मातरम्+अन्तरा) पिता= द्युलोक, माता=पृथिवी। अर्थात् द्युलोक और पृथिवी लोक के अन्तरा=मध्य में (इदम्+एजत्+विश्वम्) यह क्रियावान् सम्पूर्ण जगत् (ताभ्याम्) उन देवयान पितृयानों से (समेति) संमिलित है ॥

यहां शङ्का होती है कि देवयान और पितृयान क्या है? आदि में ही मैं लिख आया हूं कि "जो लोग अरण्य में श्रद्धा और तप की उपासना करते हैं वे क्रम से ज्वाला, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, सम्वत्सर, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत् में जाकर पश्चात् ब्रह्म को प्राप्त होते हैं एवं जो ग्राम में इष्टापूर्त की उपासना करते हैं वे क्रम से धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक, आकाश और चन्द्र को प्राप्त होते हैं। इनही दो मार्गों के देवयान, पितृयान नाम हैं। यह मरण के पश्चात् की दशा का वर्णन है अर्थात् मरने के अनन्तर क्या २ दशाएं इस जीव को भुगतनी पड़ती हैं इस का वर्णन करता है। यह एक संज्ञा मात्र है पितरों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं क्योंकि समस्त मनुष्यों के लिये ये दोनों मार्ग कहे गये हैं ज्ञानी मनुष्य देवयान से और साधारण मनुष्य पितृयान से गमन करते हैं। यदि पितृयान से ही केवल पितरों का सम्बन्ध होता तो "आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः" यहां देवयान से पितृगमन नहीं कहा जाता। इस में कोई शङ्का करते हैं कि जब ये प्राणी चन्द्रलोक से लौटते हैं तब द्युलोक, पर्जन्य, पृथिवी, ओषधि आदियों में से होते हुए आते हैं और

इन में कुछ समय भी लगता है अतः जैसे हवन के द्वारा वायु आदि देवों को भाग पहुँचता
है वैसे पिण्डदान से पर्जन्यादिस्थानस्थ पितरों को लाभ पहुंचता होगा। समाधान।
पर्जन्यादिकों में सूक्ष्म या स्थूल शरीर से रहते हैं ? आप को मानना पड़ेगा कि सूक्ष्म
शरीर से। क्योंकि इस अवस्था में ओषधि, रज, वीर्य आदि में भी तो उन जीवों का
निवास माना गया है। क्या रज वीर्य में स्थूल शरीर के साथ निवास करसकेंगे। नहीं।
अतः सिद्ध है कि सूक्ष्म शरीर से इन अवस्थाओं में रहते हैं। वह सूक्ष्म शरीर, अ-
न्नादिकों की अपेक्षा नहीं रखता है यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है अतः इस वितण्डावाद
को त्याग सत्य की ओर जाना चाहिये। इसी प्रकार इसमें जो अन्यान्य सन्देह करते
हैं बुद्धिमान् पुरुष इसी प्रकार समाधान करदिया करें इति।

पितृगण और चन्द्रमा—बहुत अविवेकी पुरुष चन्द्रमा में पितृलोक मानते
हैं परन्तु यह भी भूल है। क्योंकि यदि पितर चन्द्रलोक में निवास करते तो उन्हें
चन्द्र प्रिय होना चाहिये और इसके अनुसार शुक्लपक्ष और पूर्णिमा तिथि पितरों की
होती परन्तु कृष्णपक्ष और अमावास्या तिथि पितरों की मानी जाती है। पुनः पुराणों
के अनुसार चन्द्र में अमृत पान करते हुए पितरों को पृथिवीस्थ-पिण्डों की आवश्यकता
नहीं होती यदि कहो कि चन्द्रामृत तो देवों के लिये है पितर कैसे पान करेंगे। तो इस अवस्था
में उनका वहां रहना व्यर्थ है। यदि कहो कि कृष्णपक्ष में अमृत पीते २ अमावास्या
को बिलकुल घट जाता है इसी कारण अमावास्या-श्राद्ध पृथिवी पर विहित है तो यह
कहना भी समुचित नहीं। अमृतपान करनेवाले अमर होते हैं किञ्चित् अमृत से राहु
केतु अभीतक अमर बन रहा है क्या एक दिवस भी पितर अमृत बिना नहीं रह स-
कते हैं। दूसरी बात यह है कि जो चन्द्र में रहते हैं उन्हें देवगण खा जाते हैं फिर
"अग्निष्वात्तादि पितर नित्य हैं" यह आप का सिद्धान्त कहां रहा। एवं सर्वत्र कहा
गया है कि देवयान या पितृयान दोनों मार्गों से जाते हुए को चन्द्र मिलता है एक
पितृलोक पृथक् भी उक्त है इत्यादि कारणाधीन हो कहना पड़ता है कि लोग इसका भी
[illegible] इसका आशय यह था। आपने देखा है कि पितरों के [illegible]
[illegible] है। [illegible] को [illegible] कहते हैं [illegible]

से लेके सब लताओं का ग्रहण है। इस सोमलता-विद्या में और सोमयाग में जो पितर निपुण होते थे वे सोम्य नाम से पुकारे जाते थे एवं वे सोम रस के बड़े प्रेमी होते थे और गृहस्थ लोग भी रक्षक और वृद्ध पितरों को बलप्रद होने के कारण खूब सोम रस पिलाया करते थे "ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशंसे सोमपीथं य आशुः" इत्यादि मन्त्रों से प्रतीत होता है। दूसरी बात यह थी कि रात्रिरक्षक पितरों को आकाशस्थ चन्द्रमा बड़ा सहायक होता है अथवा जैसे चन्द्रमा अपने प्रकाश के लिये देवसूर्य्य से सहायता चाहता है वैसे वृद्ध पुरुष अपने देवपुत्र पौत्रादिकों से सहायाकांक्षी हैं। यह भी स्मरणीय है कि शुक्लपक्ष में वृद्धि के कारण चन्द्रकिरण देव और कृष्णपक्ष में ह्रास के कारण पितर कहते हैं अर्थात् चन्द्रकिरण के नाम ही देव और पितर हैं अतः अलङ्कार रूप से कहा है देव और पितर दोनों चन्द्र से जीते हैं अथवा सूर्य और चन्द्र दोनों देव और पितर क्रम से कहाते हैं क्योंकि सूर्य प्रचण्ड-रूप से बढ़ता ही रहता है घटने पर भी किसी दिन बिलकुल लुप्त नहीं होता अतः सूर्य अमर है परन्तु चन्द्रमा सदा बढ़ता घटता रहता है अमावास्या प्रतिपद् को प्रायः सर्वथा लुप्त भी हो जाता है अतः पितर है क्योंकि पितर भी घटते २ एक दिन शान्त हो जाते हैं फिर जन्म लेके बढ़ने लगते हैं पुनः यौवनावस्था के बाद घटने लगते हैं इस प्रकार चन्द्रवत् पितरों की गति है इत्यादि अनेक कारणवश पितर सोम्य और चन्द्रलोकनिवासी इत्यादि नामों से कहे जाते हैं परन्तु सोम नाम चन्द्रमा का भी है अतः "चन्द्रलोक में पितर निवास करते हैं" यह जनप्रवाद चल पड़ा। एक बात यह भी स्मरण रखनी चाहिये सोमलता और चन्द्रमा के नाम प्रायः समान हैं इससे अर्थज्ञान में अन्तर पड़ा है। इस प्रकार पृथिवीस्थ सोम (सोमलता) और अन्तरिक्षस्थ सोम (चन्द्रमा) दोनों ही पितरों के सहायक हैं। इसी कारण इन मन्त्रों में पितर और सोम का सम्बन्ध देखते हैं "अपाम सोममृता अभूमाऽगन्म ज्योतिरविदाम देवान्। किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥ ३ ॥ यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्याँ आविवेश। तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृडीके अस्य सुमतौ स्याम ॥ १२ ॥ सं सोम

पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आततन्थ । तस्मै त इन्द्रो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणम् ॥ १२ ॥ ऋग्वेद० ८ । ४८ । पुनः सुश्रुत चिकित्सा स्थान में "सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च । तानि शुक्ले च कृष्णेच जायन्ते निपतन्ति च । एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तथा । शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत् पञ्चदशच्छदः" कहा है भाव इस का यह है कि जैसे चन्द्रमा शुक्लपक्ष में एक एक कला से बढ़ता और कृष्णपक्ष में घटता है सोमलता की भी यही दशा वर्णित है । शुक्लपक्ष में एक २ पत्र नवीन उत्पन्न होता जाता है और कृष्णपक्ष में एक २ पत्र गिरता जाता है इस हेतु पृथिवीस्थ सोमलता और आकाशस्थ सोम दोनों का समान रीति से बहुधा वर्णन आता है अतः " सोमो वीरुधामधिपतिः समावतु । अथर्व " इत्यादि । अतएव आकाशस्थ चन्द्रमा से ओषधियों की पुष्टि होती है चन्द्रमा ओषधीश्वर है इत्यादि प्रवाह चल पड़ा है । अब यह बात सुबोध हो जाती है कि पितृ-गण चन्द्रलोक में अमृत पान करते हैं इस का क्या आशय है । यज्ञ में सोमलता का अधिक प्रयोग है । सोमलताही मानो चन्द्रलोक है इस लता के रस का पान करना ही मानो अमृत पान है । यहां पर इतना और भी जानना चाहिये कि सोम शब्द उपलक्षक है यज्ञ में एक विचित्र और आश्चर्य-आनन्द-प्रद किसी प्रकार का एक रस तैयार किया जाता था इस में सोमलता की प्रधानता रहती थी इस हेतु इस को सोमरस कहते थे परन्तु यह सैकड़ों पदार्थों के रस से आश्चर्य्य रूप से तैयार किया जाता था जिस के १०, ५ विन्दु ही अबल पुरुष को वलिष्ठ बनाने में समर्थ होते थे । पीने के लिये जब यह रस ऋत्विकों को मिलता था तो वे कहते थे " अपाम सोममभृता अभूम" सोम पान कर लिया अब अमृत होगये । यही सोम-रस-रूप अमृत पान पौराणिक-चन्द्रलोकामृत पान है । चूंकि यज्ञ में पितृ गणो का बड़ा सम्बन्ध था इस रस को वेही लोग तैयार करते थे इस लता-रक्षा में बड़ा ध्यान रखते थे । और मैं कह चुका हूं कि सोमशब्द से पृथिवीस्थ यावत् खाद्य पदार्थों का ग्रहण है । सो यावत्पदार्थों के भी रक्षक पितृ-गण थे अतः कहा गया है कि पितरों का चन्द्रलोक में निवास है और वहां अमृत पान करते हैं । वेद में यह भी एक विलक्षणता है कि प्रथम पृथिवीस्थ सोम को वर्णन करेंगे पीछे आकाशस्थ सोम की ओर

ले जायँगे पश्चात् सर्वव्यापी परमपूज्य सोम अर्थात् ईश्वर की ओर लेजायँगे इस प्रकार "अपाम सोमगमृता अमूम" इत्यादि वाक्य से परमात्मा का भी ग्रहण है **वहां देवों का अन्न पितर क्यों कहाते हैं ?** यह प्रश्न अब शेष रह गया। यह भी अब दुर्बोध नहीं। मैंने अभी देवमार्ग और पितृमार्ग कहे हैं। वे दोनों मार्ग मरण के पश्चात् की दशा सूचक हैं यथार्थ में किसी विशेष रास्ते के नाम नहीं किन्तु उत्तम-दशा का नाम देवयान या देवमार्ग और मध्यमदशा का नाम पितृयान या पितृमार्ग है। इस देवयान-दशा से जो बढ़ते हैं वे जीव भी देव और पितृयान-दशा से जो जाते हैं वे जीव भी पितर नाम से पुकारे जाते हैं। इन पितरों की अन्तिम दशा का नाम चन्द्रदशा है और इन को वहां से शीघ्र लोटना पड़ता है पुनः वे जन्म लेते हैं जिसहेतु अन्तिम-दशा का नाम ही चन्द्र है और वहां से लोटते हैं अतः कहा जाता है कि ये पितर अर्थात् चन्द्रदशा-प्राप्त जीव देवों के अर्थात् प्राकृतिक नियमों के अन्न हैं। अर्थात् बारबार इन का जन्म लेना ही अन्नत्त्व है इस कारण कहा गया है कि पितर देवों के अन्न हैं। इत्यादि भाव जानना। इति संक्षेपतः ॥

पितर और अन्न ॥

पितृयज्ञ में भोजन का इतना माहात्म्य क्यों ? इस का कुछ तो वर्णन स्वधा-प्रकरण के "पितृगण और अन्नवाचक स्वधा" शीर्षक लेख में दिया गया है। विशेष यहां निरूपण करते हैं "अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः"। "अत्ता हवींषि प्रयतानि"। "प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्"। "आवह पितॄन् हविषे अत्तवे" मनुस्मृति-प्रभृति ग्रन्थों में भी इस के लिये अनेक बन्धन देखते हैं। कव्य शब्दः—यद्यपि कहीं २ पितर के विशेषण में भी आया है तथापि पितरों के अन्न का नाम कव्य है "हव्यकव्ये दैवपित्र्ये अन्ने पात्रे स्रुवादिकम्"। अमरकोश। देवान्न को हव्य और पित्रन्न को कव्य कहते हैं। "कु" धातु से कव्य बनाते हैं। परन्तु 'कवि' शब्द से 'कव्य' की सिद्धि करनी चाहिये। क्योंकि कु धातु का अर्थ शब्द करना है। पितरों के लिये जो शब्द करे यह अर्थ शोभित नहीं होगा। अनेकार्थ मानना सर्वत्र उचित नहीं। कवि शब्द से ही इस को बनाना चाहिये। आगे इस का कारण निरू-

पण करता हूं। कवि शब्दार्थ केवल काव्य करनेवाला ही नहीं होता । यास्काचार्यादि
कोंने इसका ज्ञानी, परम ज्ञानी अर्थ किया है "कविर्मनीषी" यहां अस्मार्थ में कवि
शब्द आया है । कारण इस में यह है कि वृद्ध और देशरक्षक पुरुषों का नाम पितर
है । अब उन वृद्ध पिता-पितामह, प्रपितामहों के लिये किस को पाक करना चाहिये
और कैसे २ पदार्थ होने चाहियें ? निःसन्देह परमचतुर पाक–शास्त्र तत्त्ववित् पुरुष ही
इन के लिये पाक बना सकता है वही जान सकता है कि यह अन्न सुसिद्ध हो गया
यह शीघ्र पचनेवाला है इस ढंग से यह पकने पर किसी प्रकार से दुःखदायी नहीं
होगा अमुक २ अन्नों से वृद्ध पितरों को स्वधा अर्थात् स्वधारण शक्ति प्राप्त होगी
अमुक अन्न इतनी देर में पचता है अमुक अन्न शीघ्र नहीं पचता इत्यादि भेद वही
जान सकता है अज्ञानी ईषद्वित् पुरुषों के हाथ में यदि यह काम देदिया जाय तो जो
पितर एक आध वर्ष में मरने वाले हैं वे अन्न खाते ही मरजांय या बीमार पड़ के दुःख
भागी बनें । भोजनदाता को हर्ष के स्थान में शोक ही शोक प्राप्त हो । इस हेतु पिण्ड-
पितृ-यज्ञ के अन्नों को पकाने के लिये अनुभवी पाक-शास्त्र तत्त्व-वेत्ता पुरुषों को नियुक्त
करने की विधि देखते हैं । वेदों में लक्षण देख इस कारण इस अन्न का नाम 'कव्य'
रक्खा "कविभिः पाकशास्त्रतत्त्वविद्भिः पुरुषैः सम्पादितं कव्यम्" इस हेतु श्राद्ध में पित्रन्न का
इतना माहात्म्य है । यह 'कव्य' शब्द भी सिद्ध करता है कि यह जीवित-यज्ञ है ।
अन्यथा मुर्दों के लिये इतने संभार करने की क्या आवश्यकता ? पुराण अथवा आजक-
ल के धर्मशास्त्र के अनुसार तो किसी प्रकार का अन्न हो पितर जिस २ योनि में गए
हैं तदनुकूल ही वह बन जायगा । सिंह के लिये मांस और ऊंट के लिये वह अन्न
कंटक बन जायगा । फिर समारोह की आवश्यकता ही क्या ?

पितर कैसे होने चाहियें—मन्वादि-धर्मशास्त्र में कैसे कैसे ब्राह्मण चुनके
खिलाने चाहियें इसका बड़ा नियम देखते हैं । देवकर्म में कोई नियम नहीं परन्तु पितृ-
कर्म में ब्राह्मण परीक्षा के अनेक नियम बांधे गये हैं मैं यहां संक्षेप से लिखता हूं यह
भी सिद्ध करता है कि पितृ-यज्ञ जीवित यज्ञ है ॥

श्रोत्रियैव च देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः । अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥ ॥ १२८ ॥ एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत् । पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बहूनपि ॥ १२९ ॥ दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् । तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥ सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते । एकस्तान् मन्त्रवित् प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ १३१ ॥ ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च ॥ १३२ ॥ ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथापरे । तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथा परे ॥ १३४ ॥ ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः । हव्यानि यथान्यायं सर्वेष्वपि चतुर्ष्वपि ॥ १३५ ॥ यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् । शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम् ॥ १४५ ॥ इत्यादि ।

मनुष्यों को उचित है कि श्रोत्रिय और आचारादिकों से पूज्यतम पुरुष को हव्य कव्य देवें । वह महाफल-प्रद होता है ॥ १२८ ॥ दैव और पित्र्य कर्म में एक २ विद्वान् को भी भोजन देने से महाफल होता है । अवेदज्ञ बहुतों को देने से भी कुछ लाभ नहीं ॥ १२९ ॥ दूर से ही वेदपारग ब्राह्मण की परीक्षा करनी चाहिये । वही हव्य कव्य के तीर्थ हैं और दान के अतिथि हैं ॥ १३० ॥ जहां १००००० दशलक्ष मूर्ख अवेदज्ञ खाते हैं वहां एक वेदवित् भोजन से प्रीत हो उतना फल दे सकता है ॥ १३१ ॥ ज्ञाननिष्ठ को हव्य कव्य देने चाहियें ॥ १३२ ॥ ज्ञाननिष्ठ, तपोनिष्ठ, तपःस्वाध्यायनिष्ठ और कर्मनिष्ठ द्विज होते हैं ॥ १३४ ॥ विशेष कर ज्ञाननिष्ठ द्विजों में कव्य देने चाहिये और हव्य तो चारों में देवे ॥ १३५ ॥ यत्न से वेदपारग ऋग्वेदीय, शाखान्तग यजुर्वेदीय, समाप्तिक सामवेदीय को भोजन करावे । यह विधान करके आगे निषेध किया है कि, चोर, पतित, क्लीब, नास्तिक, जटिल, अनधीत, चिकित्सक (वैद्य) देवलक, मांसविक्रयी, ग्राम-राज-सेवक, जिसके दांत काले हों, तनखाह ले के पढ़ानेवाला इत्यादि पुरुषों को श्राद्ध में न बुलावे । ऐसा नियम क्यों ? इस का भी आशय जीवितों में ही घटता था परन्तु अब कुछ उलटा अर्थ होगया । पिण्डपितृ-यज्ञ और पितृयज्ञ ये दो प्रकार के यज्ञ होते थे । अ-

ग्निष्टोम, राजसूय, अश्वमेध आदि बड़े २ यज्ञों में पितृगण बुलाये जाते थे । ऐसे २ यज्ञों में किन २ पितरों का आमन्त्रण होना चाहिये । इस के लिये ऋषियों ने जगदुपकारी कतिपय नियम चलाये थे । जो यथार्थ में स्वधा अर्थात् अपने देश कुल परिवार धर्म्म कर्म्मों को धारण पोषण करनेवाले हों उन का ही आवाहन होना उचित है । सब से प्रथम मनुजी 'श्रोत्रिय के' सो भी परमाचरणवान् और अपने आचरण के कारण 'अर्हत्तम'=पूज्यतम पुरुष हो उस को अधिकारी कहते हैं । गोभिलीय गृह्यसूत्रादिक भी यही कहते "हैं स्नातकान् । ७ श्रोत्रियान् । ८ वृद्धान् । ९ अनवद्यान् । १० स्वकर्म्मस्थान् १२" गो० गृ० श्राद्धकल्प । स्नातक, श्रोत्रिय, वृद्ध, अनवद्य और स्वकर्म्मस्थ पुरुषों को आमन्त्रण करना चाहिये । वास्तव में ये ही सब स्वधावान् पितर कहलाने के योग्य हैं । जो अज्ञानी, कुटिल, दाम्भिक, नास्तिक आदि पुरुष हैं वे कदापि रक्षक नहीं बन सकते अतः चुने २ पुरुष जो यथार्थ में पितर कहलाने के योग्य हैं वे आहूत होते थे । और ऐसे ही आचारी पुरुष जो वनाश्रम में रहते थे वे भी यज्ञ में पूजित होते थे । यहां यह भी स्मरण रखना चाहिये कि केवल वानप्रस्थाश्रमी ही होने से कोई धार्म्मिक नहीं बनता । वनी होने पर भी अमनस्क पुरुष शीघ्र नहीं सुधरते । दूसरा साधारण पितृयज्ञ में सब ही वनी बुलाये जाते थे । क्योंकि अधम से अधम पुरुष भी तो किसी के पितर ही हैं । अब इस वृद्धपितृयज्ञ में भी इनके साथ वे ही बैठ सकते थे जो सदाचारी थे । इस का भी कारण यह है कि वृद्धपुरुषों के निकट प्रथम तो दुराचारी जा ही नहीं सकता है क्योंकि वे ऐसे को टांट देते हैं । फिर ये भी स्वयं पितर अर्थात् रक्षक ठहरे इस कारण प्रतिकूल चलने वाले को वे क्यों कर सहेंगे । दूसरी बात यह है कि ये पितर परमवृद्ध और सदाचारी पहले से भी रहते हैं वा इस आश्रम में आके वैसे बन जाते हैं । ये यदि दुराचारी को देख लेवें तो झट क्रुद्ध होजांय जिस से इन के मन और शरीर में कुछ विकार उत्पन्न हो सकता है अतः पितृयज्ञ के लिये श्रोत्रिय सदाचारी पुरुष अधिकारी माना है । इत्यादि अनेककारणवश यह नियम चलाया गया है । ये सारे संकेत जीवित में ही घट सकते हैं । मृतपुरुषों के लिये इस की कोई आवश्यकता नहीं । क्योंकि उस में तो केवल मन्त्र की प्रबलता चाहिये जो इस दूध भात को भी

सिंहयोनिगत पितर के लिये मांस और देवों के लिये अमृत, सर्प के लिये विष बनावे। यदि कहो कि उत्तम ब्राह्मण को पितर के स्थान में खिलाने से शीघ्र पहुंचता है तो यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि जब कुशा पर वा ब्राह्मण के हाथ में पितर के उद्देश से पिण्ड रखते हैं तब ही पितर का अंश उस से चला जाता है वा जब वह खाया जाता है तब पित्रंश बनता है आप के सिद्धान्त के अनुसार तो पितरों के उद्देश से जब ही मन्त्र पढ़ के पिण्ड छोड़ा जाता है तब ही वह पित्रंश बन जाता है। भोजन का राह नहीं देखता, यदि कहो कि ब्राह्मणों से भुक्त होने पर वह दत्तपिण्ड पित्रन्न बनता है तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि इस अवस्था में मन्त्र पढ़ के कुशा पर पिण्ड रखना व्यर्थ होगा। ब्राह्मण को ही भोजन के समय में मन्त्र पढ़ना चाहिये जिस से कि वह पित्रन्न बनता चला जाय। परन्तु ऐसा होता नहीं। दूसरी बात यह है कि पितरों का आवाहन आसन, वस्त्र, जल, आचमनीय आदि सब विधि करते हो आप समझते हो कि पितर आके बैठे हुए हैं इन को ही पिण्ड भी देते हो अथवा वसु, रुद्र, आदित्य इन तीनों देवता को पिता, पितामह, प्रपितामह इन तीनों के उद्देश से देते हो। इन के द्वारा मृत-पुरुषों को पहुंचना मानते हो कोई सिद्धान्त मानो। यही सिद्ध होगा कि ब्राह्मण-भोजन से पितर का सम्बन्ध नहीं। फिर ब्राह्मणों की परीक्षा आपके मत से व्यर्थ ही है। अतः मैं कहता हूं कि इस का कुछ अन्य भाव था परन्तु उसे लोग भूल गए। बड़े २ वृद्ध और ज्ञानी पुरुष इस में निमन्त्रित होते थे। इसी हेतु "देवकार्य्याद्द्विजातीनां पितृकार्य्यं विशिष्यते। दैवं हि पितृ-कार्य्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम्" इत्यादि लेख-द्वारा देव-कर्म्मापेक्षा पितृकर्म्म को श्रेष्ठ माना है। इति संक्षेपतः।

पुत्र ही समय पाके पितर कहाते हैं।

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः। ऋ० १।

(देवाः) हे प्राण, मन, चक्षु आदिक इन्द्रियदेवो! (अन्ति) हम मनुष्यों के समीप (नु) निश्चय (शतम्+इत्+शरदः) सौ ही शरद् अर्थात् सौ ही वर्ष हैं अर्थात् हमारी आयु सौ वर्ष की है। (यत्र) जिन शत शरदों में आप सब इन्द्रिय देव (नः+

तनूनाम्) हमारे शरीरों की (जरसम्) जरा अवस्था (चक्र) बनाते हैं। हे इन्द्रि- यों ! और (यत्र) जिन वर्षों में (पुत्रासः+पितरः+भवन्ति) हमारे पुत्रगण पितर हो जाते हैं अर्थात् हमारे पुत्रों के भी पुत्र हो जाते हैं (मध्या) इस के मध्य में (आ- युर्गन्तोः) आयु के अवशेष के पूर्व (मा+नः+रीरिषत) आप हमको न त्यागें अ- र्थात् हम पूर्ण सौ वर्ष की आयु भोग पुत्र पौत्रों को देख मरें अन्ति=अन्तिक "अन्तिक- शब्दस्य कादिलोपो बहुलमिति वक्तव्यम्" आशय–भगवान ने सौ वर्ष की आयु दी है। इन्हीं सौ वर्षों में शरीर जीर्ण हो जाता है और पुत्र के पुत्र भी अर्थात् पौत्र भी हो जाते हैं। यहां कहा गया है कि पुत्र पितर होते हैं। अर्थात् इन की भी वृद्धावस्था आने लगती है और ये ही वानप्रस्थ में जाके पितरों के नाम से पुकारे जाते हैं ऐसे के लिये ही पितृयज्ञ है।

द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विद मा-स्थापयन्त तृतीयेन कर्म्मणा।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम्। ऋ०।१०।

हमारे (सूनवः) पुत्रों ने (तृतीयेन+कर्म्मणा) तृतीय कर्म्म अर्थात् पुत्रोत्पादन से (असुरम्) बलिष्ठ (स्वर्विदम्) सुखप्रापक सन्तान को (द्विधा+अस्थापयन्त) द्वि प्रकार से स्थापित किया है और इस प्रकार वेही पुत्र अब (स्वाम्+प्रजाम्) स्वीय प्रजा को पैदा कर (पितरः) पितर हो (अवरेषु) अपने से नीचे पुत्रों में (पित्र्यम् +सहः) पैत्रिक धन और (आततम्+तन्तुम्) प्रजारूप विस्तृत तन्तु को (आ+अदधुः) आहित=स्थापित किया है। आशय-ब्रह्मचर्य्य से ऋषियों को, यज्ञों से देवों को, प्रजा से पितरों को प्रसन्न करना चाहिये। इस हेतु तृतीय कर्म्म का अर्थ यहां प्रजोत्पादन है, द्विधा–पुत्रोत्पादन से एक तो पैत्रिक ऋण शोधन होता है और दूसरा आगे वंश की परम्परा चलती रहती है। इस प्रकार पुत्रोत्पादन से दो प्रकार के कार्य्य होते हैं, इस से भी पुत्र ही पितर होते हैं यह सिद्ध होता है ॥

नावा न क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा।
स्वां प्रजां बृहदुक्थो महित्वा वरेष्व दधादा परेषु। ऋ०।८।

(न) जैसे (नावा) नौका से (सोदः) जल (अति) तैरते हैं और (स्वस्तिभिः) उत्तम राजमार्गों से (पृथिव्याः+प्रदिशः) पृथिवी की हरेक दिशाओं को जाते हैं और कल्याणप्रद धर्म्म से जैसे (विश्वा+दुर्गाणि) सकल क्लेशों को पार उतरते हैं वैसे ही (बृहदुक्थः) ज्ञानी पुरुष (स्वाम्+प्रजाम्) अपने प्रजा को उत्पन्न करके (अवरेषु) अपने से नीचे (परेषु) परन्तु गुणादिकों से उत्कृष्ट सन्तानों में (महित्वा) धन धान्यादिक महिमा को (आ+अदधात) स्थापित करते हैं और स्थापित करके ऋणत्रय से मुक्त होते हैं ॥

पितरों के लिये आयु की प्रार्थना ।

य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृते नाभिन्दन् परिवत्सरे बलम् ।
दीर्घायुत्वमंगिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ ऋ० १०

(पितरः) हे आग्नेयास्त्रनिपुण पितृगणो ! ये जो आप लोग (गोमयम्+वसु) सर्वादि धनको (उदाजन) यज्ञार्थ रक्षा करते हैं और (परि+वत्सरे) प्रत्येक वर्ष में (ऋतेन) सत्य धर्म्म सत्य व्यवहार से युक्त हो (बलम्) दुष्ट पुरुषों के बल=सेना को (अभिन्दन्) छिन्न भिन्न करते हैं (अङ्गिरसः) आग्नेयविद्या में निपुण पितरो ! (वः) ऐसे वीर कर्म्म करनेवाले आप सब को (दीर्घायुत्वम्+अस्तु) दीर्घायु होवे (सुमेधसः) हे परम बुद्धिमान् पितरो ! (मानवम्+प्रतिगृभ्णीत) मानव जाति पर अनुग्रह प्रदर्शित करो । यहां पितरों के कर्म्म कहके इन की दीर्घायु होवे और ये पितृगण मनुष्यों में उपद्रव न मचाके रक्षा करें यह उपदेश दिया गया है । इस से सिद्ध है ऐसे स्थलों में पितर नाम रक्षकों का है । यहां आङ्गिरस पितरों का और भी कुछ विशेष वर्णन इसी सूक्त के द्वारा करते हैं ।

पितरों के अनेक कर्म्म ।

ये यज्ञेन दक्षिणाया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश । तेभ्यो भद्रमाङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ ऋ० । १०॥

(ये) जो आप पितृगण (यज्ञेन) यज्ञ=सत्कर्म्म के द्वारा (दक्षिणाया+समक्ताः)

दक्षिणा=पुरस्कार से युक्त हो (इन्द्रस्य+सख्यम्) ईश्वर की मैत्री पाके (अमृतत्वम्) अमरण धर्म्म को (आनश) पाते हैं वा ईश्वर के सख्यरूप अमृतत्वको पाते हैं। अर्थात् आपकी यश कीर्ति कभी नहीं लुप्त होती (अंगिरसः) हे अंगिरस पितरो ! (तेभ्यः+वः) ऐसे सत्कर्म्म निष्ठ आपको (भद्रम्+अस्तु) कल्याण होवे (सुमेधसः) ऐ बुद्धिमान् पितरो ! (मानवम्+प्रति गृभ्णीत) मनुष्य जाति पर अनुग्रह करो ॥१॥

ये ऋतेन सूर्य्यमारोहयन् दिव्य प्रथयन् पृथिवीं मातरं वि ।
सुप्रजास्त्वमंगिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥२॥

(ये) जिन आप लोगों ने (ऋतेन) सत्य धर्म्म को (द्वितीयार्थे में तृतीया है) (दिवि+सूर्य्यम्+आरोहयन्) द्युलोक में सूर्य्य तक पहुंचाया है और (मातरम्+पृथिवीम्) माता पृथिवी को (विः+अ+प्रथयन्) अपनी कीर्ति से प्रख्यात किया है (अंगिरसः) हे आग्नेयास्त्र निपुण पितरो ! (वः) आपको (सुप्रजास्त्वम्+अस्तु) सुप्रजास्त्व होवे। अर्थात् आपकी प्रजाएं सर्व गुण सम्पन्न होवें (प्रति०) मनुष्य जाति पर अनुग्रह करो।

अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन॥
सुब्रह्मण्यमंगिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत ऋ० १०—६२—४ ॥

(देवपुत्राः+ऋषयः) हे देव पुत्र ऋषियो (वः+गृहे) आप के गृह में (अयम्+नाभा) यह आप की भाई मनुष्य जाति (वल्गु+वदति) कल्याण वचन कह रही है। क्या कहती है (अंगिरसः) हे अंगिरस पितरो ! (वः+सुब्रह्मण्यम्+अस्तु) आप को शोभन ब्रह्मचर्य्य प्राप्त होवे (प्रति०) मनुष्य जाति पर कृपा करो ।४।

नाभा=सनाभि=भाई जाति परस्पर भ्राता हैं अतः नाभा कहा गया है। आशय यहां पितर के लिये ऋषिपद आया है। मनुष्य जाति देशरक्षक पितरों से अपनी २ रक्षा के लिये याचना करें। यह शिक्षा दी गई है। अब आगे दिखलाया जाता है कि अग्निविद्या में परम निपुण होने के कारण ये पितर अग्निपुत्र कहाते हैं।

विरूपास इदृषयस्त इद् गंभीरवेपसः । ते अंगिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥ ५ ॥ ये अग्नेः परिजज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि । नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते ॥ ऋ०१०

(ऋषयः+इत) वे ही पितर कर्म के द्वारा ऋषि भी कहाते हैं वे (विरूपासः) अनेक-रूपवाले हैं (ते+इत्+गंभीरवेपसः) वे ही गंभीर कर्म्म करनेवाले हैं (ते+अंगिरसः+सूनवः) वे अंगिरापुत्र=अग्निपुत्र कहते हैं क्योंकि (ते+अग्नेः+परिजज्ञिरे) वे अग्नि के निमित्त ही उत्पन्न हुए हैं । ५ । (विरूपासः) वे नानाविध (ये) जो अंगिरस पितर हैं (अग्नेः+परिजज्ञिरे) जो अग्निविद्या के प्रचारार्थ ही उत्पन्न हुए हैं जो (परि+दिवः) जो सर्वतोभाव दिव्य है । इन में से कोई (नवग्वः) अथवा ९० नब्बे वर्ष के अथवा नूतनगति वाले=नूतन २ विद्याओं को आविष्कार करनेवाले । कोई (नु+दशग्वः) १००वर्ष के अथवा अपनी वीरता से दशों दिशाओं में गमन करनेवाले । कोई (अंगिरस्तमः) अतिशय अंगिरा अर्थात् आग्नेय विद्या में निपुण हैं वे (देवेषु+सचा) देवों में साथ ही (मंहते) पूजित होते हैं । यहां देखते हैं कि वे ही पितर, ऋषि, देवपुत्र वा अग्निपुत्र कहाते हैं । अंगिरा भी अग्नि का ही नाम है । जो अत्यन्त अग्निविद्या में निपुण होते हैं वे साक्षात् मानो अग्नि ही हैं इसहेतु ऐसे पुरुष इसी अंगिरस नाम से पुकारे जाते हैं ।

आचार्यवाचक पितृशब्द ॥

कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः । नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम् ॥ १०।८८।१८ ॥

यहां शिष्य अपने आचार्य से प्रश्न पूछता है (पितरः) हे पितरो ! (वः+उपस्पिजम्) आप को दुःखदायी वचन (न+वदामि) नहीं कहता हूं अर्थात् आप को दुःख देने के लिये नहीं किन्तु (कवयः) हे परमज्ञानी आचार्यो ! (विद्मने+कम्) ज्ञान ही के लिये मुझे सुख प्राप्त हो इस कारण (वः+पृच्छामि) आप से पूछता हूं (अग्नयः+कति) अग्नि कितने प्रकार के हैं ? (सूर्यासः+कति) सूर्य कितने हैं ? (उषासः

कति) उषाएं कितने प्रकार की हैं (आपः+कति+उ+स्वित) और जल कितने प्रकार के हैं। हे पितरो ! यह मुझे समझाओ । यहां आप देखते हैं कि कैसे २ कठिन प्रश्न पूछे गये हैं । क्या ये प्रश्न मृत पुरुषों से पूछे जासकते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि यहां पितृशब्द आचार्यार्थक है इसी कारण आगेकी ऋचा कहती है कि पितृगण सर्वदा 'मेधा' अर्थात् बुद्धि की उपासना करते हैं क्योंकि जो विद्या पढ़ेंवेंगे उन्हें अवश्य ही मेधा की उपासना करनी पड़ेगी ।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ यजुः ३२-४ ॥

(याम् मेधाम् देवगणाः पितरः च) जिस मेधा को देवगण और पितृगण (उपासते) उपासना करते हैं (अग्ने) हे परमात्मन् ! (तया मेधया) उस मेधा से (अद्य) आज (माम् मेधाविनम् कुरु) मुझ को मेधावी बनावें (स्वाहा) यह मेरा वचन स्वीकृत हो ।

इसी हेतु अब आगे आप देखेंगे कि सरस्वती अर्थात् विद्यारूपा देवी पितरोंके साथ क्रीड़ा कर रही है, रथपर चढ़ उनके साथ आनन्द करती है, पितृगण सरस्वती देवी को आह्वान कर रहे हैं इत्यादि वर्णन पाये जाते हैं इसका भाव भी ऋचा के अन्त में देखिये ।

सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती । आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वाऽनमीवा इष आधेह्यस्मे ॥१०।१७।८॥

अर्थ (सरस्वति) हे विद्ये ! (देवि) हे देवि ! (या) जो आप (सरथम्) समान रथ पर आरूढ़ होके (स्वधाभिः+पितृभिः) स्वधा अर्थात् कुल परिवार आदिकों के रक्षक पितरों के साथ (मदन्ती) आनन्द प्राप्त करती हुई (ययाथ) यज्ञ में जाती हैं वह आप (अस्मिन्+बर्हिषि) इस आसन पर (आसद्य) बैठ के (मादयस्व) आनन्दित होवें और (अनमीवा+इषः) आरोग जनक धन (अस्मे+आधेहि) हम लोगों में स्थापित करें ॥ ८ ॥

सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
सहस्रार्घमिलो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि ।१०।१७।८॥

(दक्षिणाः) दक्षिणा=विद्याओं में परमकुशल (पितरः) पितृगण (यज्ञम्+अभि-नक्षमाणाः) यज्ञों का व्याख्यान करते हुए अथवा यज्ञों की रक्षा करते हुए (याम्+सरस्वतीम्) जिस विद्या को (हवन्ते) आह्वान करते हैं । हे विद्ये ! वह आप (सहस्रार्घम्) सहस्रों से पूजनीय=उपयोज्य (इलः+भागम्) अन्न का भाग और (रायस्पोषम्) धन पुष्टि को (अत्र+यजमानेषु) इन यजमानों में (धेहि) स्थापित कीजिये । आशय-यह आलंकारिक वर्णन है । जैसे हम वर्णन करें कि हे दुर्भिक्ष ! तू भारतवर्ष से भाग जा, तू काना है, तू अन्धा है, तू भयंकर है, तू बड़ा ही मलिन है इत्यादि । इस का भाव यह नहीं है कि सचमुच दुर्भिक्ष कोई शरीरधारी व्यक्ति है जो काना अन्धा इत्यादि है । किन्तु इस का आशय यह होगा कि दुर्भिक्ष आने पर अन्न पानी विना लोग काने अन्धे होजाते हैं । लोगों की दशा अतिभयंकर शोचनीय होजाती है । अन्न विना मलिन और मरने लगते हैं इत्यादि । एवं हम कहें कि बुद्धि का सत्कार करो उस को उच्च आसन दो बुद्धि बहुत सुन्दरी मनोहरी है । यह परोपकारिणी देवी है इसी की उपासना करो । इस का भी भाव यह नहीं है कि यथार्थ में कोई मूर्तिमती बुद्धि देवी है जिस का सत्कार आदि करें । किन्तु इस का भाव यह होगा कि जो बुद्धिमान् पुरुष हो उसे सत्कार करो । उस बुद्धिविशिष्ट पुरुष को उच्च आसन दो इस से जगत्का बड़ा उपकार होता है । मतिमान् पुरुषही यथार्थमें सुन्दर है इत्यादि । पुनः हम कहें कि मेरे गृह में धर्म्म राज्य कर रहे हैं मेरे गृह में साक्षात् धर्म्म प्रतिदिन आते हैं, खाते हैं, आशीर्वाद देते हैं । विद्या मेरे यहां आती है उसे मैं उच्च आसन देता हूं इत्यादि । इस का भाव यह होगा कि मेरे गृह में धर्म्मात्मा पुरुष हैं । मेरे गृह पर धर्म्मात्मा पुरुष प्रतिदिन आते जाते हैं । विद्यावान् पुरुष मेरे यहां आते हैं उन्हें उच्च आसन देके मैं बैठाता हूं इत्यादि । पुनः जैसे विद्वान् को देख कहें कि आहा ! साक्षात् इन के साथ विद्या देवी आरही है । धर्म्मात्मा को देख कहें कि देखो ! साक्षात् इनके साथ धर्म्मदेव अथवा धर्म्म ही आरहे हैं ये धर्म्म कल्याण करेंगे । हे धर्म्म ! आप बैठें । मुझे

धर्म्मात्मा बनावें । हे धर्म्मी ! मेरे पुत्र पुत्रों को सब तरह से परिपूर्ण करें । यहां का भाव यह है कि कहीं तो गुण-मेधा, बुद्धि, श्रद्धा, विश्वास आदि पुरुषत्वारोपित होता है और कहीं साक्षात् गुणी। वेदों में भी ऐसे अलंकार बहुत हैं । ऐसे २ अलंकारों को जब तक मनुष्य न समझे तबतक वेदों का अर्थ यथोचित प्रतीत नहीं होसक्ता। इन ही भावों को न जानके पुराण पद २ पर भूल करते हैं । श्रद्धा, मेधा, सरस्वती आदि को वे साक्षात् मूर्तिमती चेतन देवी समझते हैं । एवमस्तु अब प्रस्तुत का अनुसरण करें । जब वेद कहता है कि सरस्वती देवी पितरों के साथ यज्ञ में रथ पर चढ़के आती है आसन पर बैठती है आशीर्वाद देती है । हे देवी सरस्वती ! आप मेरे यज्ञ में आवें इत्यादि तब इस का भाव यह होता है कि यज्ञों में बड़े २ विद्वान् रथ पर चढ़के आते हैं वे विद्यायुक्त पुरुष आसन पर बैठते हैं, आशीर्वाद देते हैं । हे सरस्वती अर्थात् हे विद्यायुक्त पुरुष ! मुझे विद्यायुक्त करें । इत्यादि वेदाशय जानना । अलमतिविस्तरेण विद्वज्जनेषु ।

त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः । गूढं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन् सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ।७।७६।४।

(ते+इत्) वे ही पुरुष (देवानाम्+सधमादः+आसन्) देवों के साथ आनन्द भोक्ता होते हैं अर्थात् देवत्व को प्राप्त होते हैं (ऋतावानः) जो सत्यपरायण हैं (कवयः) वेदवित् हैं । (पूर्व्यासः) जो पूर्व=पूर्वजों के उत्तम पथपर चलनेवाले हैं (पितरः+गूढम्+ज्योतिः+अन्वविन्दन्) जो पालकगण गूढ़ २ विद्यारूप ज्योति को पाते हैं ((सत्यमन्त्राः) और जो सत्यमन्त्र अर्थात् वेदों का तत्त्व जाननेवाले (उषासम्+अजनयन्) और प्रातःकाल के समान शान्तिप्रद-विद्या को उत्पन्न करते हैं ।

" पितरः पालकाः सा० "

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः । शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामाभिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ।४।

(अग्ने) हे सर्वव्यापक देव ! (अधा) और (परासः) परम श्रेष्ठ (प्रत्नासः) प्राचीन (ऋतम्+आशुषाणाः) सत्यमार्गावलम्बी विविधयज्ञसम्पादक (उक्थ-

[illegible]) अनेक [illegible] रश्मियां (क्षामः+भिदन्तः) जगत् के क्षयकारी अज्ञानादि अन्धकार को छिन्न भिन्न करते हुए (नः+पितरः) हमारे पितृगण (शुचि+इत्+अ-यन्) पवित्रता की ओर ही जाते हैं (दीधितिम्) ईश्वरीयप्रकाश पाके (अरुणीः+अपव्रन्) जगत् में विविध विद्यारूप गौओं को प्रकाशित करते हैं (यथा) हे ईश्वर ! जैसे हमारे पितृगण करते हैं वैसे मैं भी किया करूं । प्रत्न=पुराण । अयम् इणू गतौ=क्षामा=क्षयकारक तम अथवा पाप ।

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः ।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥

(हवेषु) हव अर्थात् यज्ञों के निमित्त (सत्यस्य+पतयः) सत्य=वेदज्ञान के रक्षक जो ऋत्विक् हैं वे (नः+शम्+भवन्तु) हमारी शान्ति-प्रद होवें अर्थात् क्रोध करके अशान्ति-प्रद न होवें (अर्वन्तः०) लोगों को लाने पहुंचानेवाले सुदृढाङ्ग भारसहिष्णु, घोड़े भी हमारे शान्तिप्रद होवें (सुकृतः) सुकृत अर्थात् यज्ञ सम्बन्धी गृह पात्रादिकों को अच्छे प्रकार बनानेवाले और (सुहस्ताः) रचना करने में जिन के हाथ निपुण हैं ऐसे (ऋभवः) बढ़ई, तखान, आदिक पुरुष भी (शम्+नः) शान्ति के लिये होवें । तथा (पितरः) रक्षकगण भी (शम्+नः भवन्तु) हमारी शान्ति के लिये होवें ।

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः ।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम ।१०।१६९।

(विश्वैः+देवैः+पितृभिः) सकल देवगण और पितृगणों से (संविदानः) सम्पूज्यमान और संज्ञायमान वह (प्रजापतिः) प्रजापति (मह्यम्) मुझ को (एताः+रराणः) इन गौवों को देता हुआ (शिवाः+सतीः) कल्याणकारिणी और सब प्रकार से [illegible] गौओं को (नः+उप+गोष्ठम्) हमारे उपगोष्ठ अर्थात् गोबन्धन स्थान में (अकः) करे और (तासाम्+प्रजया) उन गौओं के सन्तान से (वयम् सम्+सदेम) हम संगत होवें ।

[illegible]

पितृशब्द किरण-वाचक ॥

अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ।९।

(उषसः पृश्निः) प्रातःकाल का सूर्य्य (अरूरुचत्) सब को प्रकाशित कर रहा है (अग्रियः) श्रेष्ठ मुख्य (उक्षा) जलसेक्ता (वाजयुः) और अन्न प्राण दाता वह सूर्य्य (भुवनानि+बिभर्ति) भुवनों को धारण पोषण करता है (अस्य+मायया) इस सूर्य्य की माया से (मायाविनः+ममिरे) मायावी अन्धकार मरजाते हैं और (नृ-चक्षसः+पितरः) मनुष्यों के नेत्र स्वरूप जगत्पालक सूर्य्य किरण (गर्भम्+आदधुः) गर्भ अर्थात् वर्षारूपी गर्भको धारण करते हैं । सायण—"पितरः पालका देवाः पितरो जगद्रक्षका रश्मयः" । पितृशब्द के पालक देव और किरण दो अर्थ करते हैं ।

पितृशब्द प्राकृतिकनियमवाचक ॥

ते हि द्यावापृथिवी मातरा मही देवी देवान् जन्मना यज्ञिये इतः ।
उभे बिभृत उभयं भरीमभिः पुरुरेतांसि पितृभिश्च सिञ्चतः ।१०।

(मातरा) माता अर्थात् पोषण करने वाली (मही+देवी) महती और प्रकाश-वती (यज्ञिये) प्रशंसनीय (ते+द्यावापृथिवी) वे दोनों द्युलोक और पृथिवी (जन्मना+देवान्+इतः+हि) जन्म से ही देवों को प्राप्त होती हैं । (उभे) दोनों द्यावा पृथिवी (भरीमभिः) विविध भरण पोषण से (उभयम् + बिभृतः) परस्पर दोनों की रक्षा करती हैं और (पितृभिः) प्राकृतिक नियमों से मिलके (पुरुरेतांसि) बहुत जलों को (सिञ्चतः) सींचतीहै । "पितृभिः पालकै र्देवैः" यहां सायणभी पितृशब्दार्थ पालक देव करते हैं ।

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन् ।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः ।१०।

(न) जैसे (श्यावम्) श्यामवर्ण (अश्वम्) अश्व को (कृशनेभिः) विविध सोने चांदी के भूषणों से (अभि+अपिंशन्) सब प्रकार से सुभूषित करें वैसे ही

(पितरः) प्राकृतिक नियम रूप देवों ने (नक्षत्रेभिः) नक्षत्र=तारा गणों से (द्याम्) द्युलोक को अलंकृत करते हैं (रात्र्याम्) रात्रि में (तमः) तम=अन्धकार (अहन्+ ज्योतिः) दिन में ज्योति (अदधुः) स्थापित करते हैं (बृहस्पतिः) उसी प्राकृतिक नियम से प्रेरित आचार्य्य भी (अद्रिम्+भिनत्) रुकावटरूप मेघ को भेदन करके (गाः +विदत्) विविधविद्या लाभ करते हैं। यहां सायण भी "पितरः पालयितारः देवाः" पितृ-शब्दार्थ देव ही करते हैं अपिंशन्=पिश अवयवे अत्र दीपनायां वर्तते ।

पितृशब्द जनकवाचक ॥

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम् । सर्वेभ्यो वः परिददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ। अ० ।।१।३०।२

(वः) आप लोगों के मध्य में (ये+देवाः) जो देव (पितरः) पितर और (ये+च+पुत्राः) जो पुत्र हैं वे सब ही आप (सचेतसः) सावधान हो के (मे+इदम्+ उक्तम्) मेरे इस वचन को (शृणुत) सुनें (वः+सर्वेभ्यः) आप सबों को (एतम्+ परि+ददामि) यह बालक समर्पित करता हूं-(स्वस्ति+जरसे) कल्याणकर जरावस्था तक (एतम्+वहाथ) इस को पहुंचावें यहां जीवित पितरों से ही अभिप्राय हो सक्ता है वहां पुत्र शब्द भी साथ ही प्रयुक्त है। एवम्-

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये। ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमतिद्रव ॥ अ० १० । ६ । ६॥ देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ अ० ११ । ७ । २७॥ द्यावापृथिवी अनु मा दिधीथां विश्वेदेवासो अनुमारभध्वम् । अंगिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्च्छत्वपकामस्य कर्त्ता ॥

हे द्यावापृथिवी ! आप मेरे अनुकूल प्रदीप्त होवें । हे विश्वेदेवो ! आप मेरे अनुकूल कार्य्य आरम्भ करें। हे सोम्य अङ्गिरस् पितर अपकामी अर्थात् द्रोहकर्त्ता पुरुष पापको प्राप्त हों।

विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव । शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन् नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः ॥ अ० १८।३।१६

हे विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, भरद्वाज, गोतम, वामदेव, शर्दि अत्रि आदि पितृ गणो! आप प्रशंसित हैं हमको सुखी बनावें । ये सब पितरों की संज्ञा है । वेदों में सामान्यनाम आते हैं विशेष नहीं ।

पितर और ऋतु ॥

"नमो वः पितरोरसाय । नमो वः पितरः शोषाय" यजु० २-३२ इस मंत्र के व्याख्यान में महीधर ने वसन्तादिक ऋतुओं को ही पितर कहा है और शतपथ में भी कहा है कि "ऋतवः पितरः" एवं "षडृतूंश्च नमस्कुर्य्यात् पितृनेव मन्त्रवित्" इस से मनु भी संकेत करते हैं कि ऋतुओं का भी नाम पितर है ।

पितृसूक्त ऋ० १०-१५ । य० १९ । अ० १८ ॥

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सौम्यासः । असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ १ ॥

(अवरे) निकृष्ट अधम पितर=नीचे दरजे के रक्षक (उदीरताम्) ऊपर को बढ़ें अर्थात् उन्नति करें (उत्+परासः) और उत्तम पितर भी ऊपर को बढ़ें (उत्+मध्यमाः+पितरः) और मध्यम पितर भी ऊपर को बढ़ें । वे पितर कैसे हैं (सोम्यासः) चन्द्रवत् सुन्दर अथवा सोम अर्थात् सकल पदार्थ, उन के रक्षक (ये) जो पितर (असुम्×ईयुः) हमारी रक्षा के लिये असु=प्राण=बल को प्राप्त अर्थात् बलिष्ठ हैं (अवृकाः) अक्रोधी अहिंसक, शत्रुरहित (ऋतज्ञाः) सत्य जानने वाले हैं (ते+पितरः) वे पितर (हवेषु) आह्वान अर्थात् हम लोगों की पुकार पर (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें वा हमको प्राप्त होवें । इसकी टीका में सायण लिखते हैं कि पितर तीन प्रकार के होते हैं उत्तम, मध्यम, अधम, जो विधिपूर्व श्रौत कर्म्म कर अनुष्ठान से पितृत्व को प्राप्त हैं वे उत्तम जो केवल स्मार्त कर्म्म करते हैं वे मध्यम, और जो समस्त संस्कारहीन हैं वे अधम । "त्रिविधाः पितरः उत्तमा मध्यमा अधमाश्चेति । ......

[illegible] कथनम् । अत्रापि किञ्चि[illegible] एतदेवाभिप्रेत्य ' ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा ' इत्यादि मन्त्रे समाम्नातुः । (सायण)

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः । ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥ २ ॥

(अद्य, पितृभ्यः, इदम्, नमः, अस्तु) आज पितरों को यह नमस्कार हो (ये, पूर्वासः) जो पूर्व अर्थात् वृद्ध=पुराने पितर हैं (ये, उ, परासः, ईयुः) जो पर अर्थात् नवीन पितर इस यज्ञमें प्राप्त हैं अथवा जो उपर=उपरतव्यापार=कृतकृत्य पितर हैं (ये, पार्थिवे, रजसि, आ निषत्ताः) जो पृथिवी सम्बन्धी रजोगुण आदि प्रधान कार्य में आसक्त हैं (वा, नूनम्) और जो निश्चय (सुवृजनासु) अच्छे प्रकार त्यागशील (विक्षु) प्रजाओं में कार्य करते हैं उन सब पितरों को आज मेरी ओर से सत्कार प्राप्त होवे । "पार्थिवे पृथिवीसम्बन्धिनि रजसि रजोगुणकार्येऽस्मिन् कर्मणि आनिषत्ताः हविः स्वीकर्तुमागत्योपविष्टाः" (पार्थिवे, रजसि) पृथिवीसम्बन्धी रजोगुण के कार्य इस कर्म में (आनिषत्ताः) हवि को स्वीकार करने के लिये आके बैठे हुए हैं । (सायण)

आहं पितॄन् सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः । बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥३॥

(अहम्) आज मैंने (पितॄन्) सब पितरों को (आ, अवित्सि) अच्छे प्रकार पाया है, वे कैसे हैं (सुविदत्रान्) मेरे भक्तिभाव को अच्छे प्रकार जाननेवाले (च, नपातम्, विक्रमणं, च, विष्णोः) और यज्ञ के नपात=अपतन और विक्रमण (फैलाव) को भी पाया (ये, बर्हिषदः) जो ईश्वरीय तत्त्ववित् पितर हैं (ते, इह, आगमिष्ठाः) वे भी यहां अतिशय करके आये हुए हैं । जो आदर पूर्वक आके (स्वधया) स्वकीय धर्म्यचिह्न [illegible] स्वभाव से युक्त हो (सुतस्य) सोमरस संयुक्त (पित्वः) पितु अर्थात् अन्न (भजन्त) भोजन करते हैं ।

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।

त आगताऽवसा शन्तमेनाऽथा नः शंयोररपो दधात ॥४॥

(बर्हिषदः, पितरः) हे बर्हिषदो पितरो ! (अर्वाग्) आप की अपेक्षा अर्वाचीन हम लोगों की (ऊती) रक्षा आप करें (वः) आप के लिये (इमा, हव्या) इन हविष्य अन्नों को (चकृम) किए हैं इनको (जुषध्वम्) ग्रहण करें (ते) वे आप (शान्तमेन, अवसा) सुखकर रक्षण के निमित्त (आगत) सर्वदा हमलोगों के यहां आया करें (अथ) और आप (नः) हमारे लिये (शम्) सुख (योः) दुःख-वियोग (अररपः) पापरहित कर्म्म (दधात) धारण करें । "हे बर्हिषदः ! बर्हिषि यज्ञे सीदन्तीति बर्हिषदः, अत्रापि ये वै यज्वानस्ते पितरो बर्हिषद इत्यत्र श्रुतत्वात्"(सायण)

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु । त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ५ ॥

(बर्हिष्येषु) यागयोग्य (प्रियेषु) और प्रिय (निधिषु) निधि अर्थात् धन कोशों की रक्षा के निमित्त (सोम्यासः) पदार्थरक्षक=अनुग्राहक (पितरः, उपहूताः) पितृगण निमन्त्रित हुए हैं (ते, इह, आगमन्तु) वे इस यज्ञ में आवें (श्रुवन्तु) सुनें (अधि, ब्रुवन्तु) अधिक उपदेश=शिक्षा देवें और (अस्मान्, अवन्तु) हमारी रक्षा करें । "सोम्यासः सोम्या अस्मदनुग्रहपराः सोमसम्पादिनः" सा० ।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभिगृणीत विश्वे । मा हिंसिष्ट पितरः केनचिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ६ ॥

अर्थ—(पितरः) हे पितृगणो ! (विश्वे) आप सब ही (जानु, आ, अच्य,) जानु को भूमि में गिरा के (दक्षिणतः) दक्षिण पार्श्व में (निषद्य) बैठ के (इमम्, यज्ञम्, अभि गृणीत) इस यज्ञ का सब प्रकार से वर्णन करें, और (वः) आप लोगों का (केन, चित्) किसी कारणवश (पुरुषता) पुरुष स्वभाव से (यद् आगः) यदि कोई अपराध (कराम) करें तो (नः) उस अपराध के कारण हमको (मा, हिंसिष्ट) बध न करें ॥

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय । पुत्रेभ्यः

पितरस्तस्य वसवः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ७ ॥

अर्थ-(अरुणीनाम्, उपस्थे) आरोचमान भस्म शस्त्र रूप ज्वालाओं के समीप स्थान में (आसीनाः) बैठे हुए (पितरः) पितरो ! आप (दाशुषे, मर्त्याय) भक्त पुरुष के (रयिम्) धन धान्य की (धत्त) रक्षा करें और (तस्य, पुत्रेभ्यः) उसके पुत्र पौत्रादिकों को भी (वसवः, प्रयच्छत) धन देवें (ते) वे आप (ऊर्जम्, दधात) इस यज्ञ की रक्षार्थ बल वीर्य्य धारण करें ।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः । येभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ८ ॥

(सोम्यासः) सोम पदार्थ सम्पादन करनेवाले (वसिष्ठाः) सब के गृह गृह में निवास करनेवाले=सर्वपरिचित (ये, पूर्वे, पितरः) जो वृद्ध=प्राचीन पितर हैं वे (सोमपीथम्, अनूहिरे) सोमपान को आनुपूर्वी अर्थात् नियमानुसार सर्वत्र पहुंचा देवें और (उशद्भिः) इच्छा करने वाले (तेभिः) उन पितरों के साथ (उशन्) इच्छा वाले (यमः) पितृपति=रक्षकाधिपति, (संरराणः) अच्छे प्रकार क्रीड़ा करते हुए (हवींषि) हव्य वस्तुओं को (प्रतिकामम्) यथेच्छ (अत्तु) खायँ ॥ ८ ॥

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः । आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥९॥

(ये) जो पितर (देवत्राः) देव अर्थात् विद्वानों के रक्षक हैं (जेहमानाः) जो रक्षार्थ सर्वत्र गमन शील हैं (होत्राविदः) होम करने वालों को जानने वाले हैं जो (अर्कैः) अर्चनीय शब्दों वा स्तोत्रों से (स्तोमतष्टासः) स्तोत्र बनाने वाले हैं (पितृभिः) उन पितरों के साथ (अग्ने, आ, याहि) हे अग्निवत् सन्देश-प्रकाशक दूत अथवा ईश्वर आओ, वे पितर पुनः कैसे हैं (सुविदत्रेभिः) परमज्ञानी, पुनः (अर्वाग्, सत्यैः) सर्वथा सत्यव्यवहारी पुनः (कव्यैः) परम कवि पुनः (घर्मसद्भिः) आग्नेय विद्याओं में निपुण ॥

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः ।
आग्नेयाहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्म्मसद्भिः ॥

(ये) जो पितर (सत्यासः) सत्य (हविरदः) हविष्यान्नभोक्ता (हविष्पाः) हविष्यरक्षक (इन्द्रेण) राजा और (देवैः) विद्वानों के साथ (सरथम्, दधानाः) समान रथ को धारण किये अर्थात् एक ही रथ पर बैठे हुए हैं । (अग्ने) हे अग्नि-दूत ! आप उन (देववन्दैः) देवों के भी वन्दनीय (पूर्वैः, परैः) प्राचीन नवीन (घर्म्मसद्भिः) आग्नेय विद्या में निपुण (सहस्रम्) सहस्रों (पितृभिः) पितरों के साथ (आ, याहि) आवें ।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ।११।

(पितरः) हे पितृगण ! आप (अग्निष्वात्ताः) आग्नेय-विद्याओं में परम निपुण हैं और (सुप्रणीतयः) अच्छी नीतिवाले हैं इस कारण (इह) यहां (सदः, सदः) घर घर में (आगच्छत) आवें और (सदत) आके रक्षार्थ यहां बैठें, तत्पश्चात् (बर्हिषि, प्रयतानि) यज्ञार्थ प्रस्तुत (हवींषि) हविष्यान्नों को (अत्त) भोजन करें (अथ) पश्चात् (सर्ववीरम्, रयिम्) सब को वीर करनेहारे धन का (दधातन) पोषण करें ।

त्वमग्ने ईलितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥१२॥

(जातवेदः, अग्ने) सब को जाननेवाले हे सन्देशहर दूत (ईलितः) हम लोगों से पूजित हो आप (हव्यानि, सुरभीणि, कृत्वी) हव्य पदार्थों को सुगन्धित करके (अवाट्) पितरों के समीप लेजायं (पितृभ्यः, प्रादाः) पितरों को देवें (स्वधया) अपने २ अर्थ के साथ वर्त्तमान (ते) वे पितर (अक्षन्) हवियों को खायें तब (देव, त्वम्) हे देव आप भी (प्रयता, हवींषि) प्रयत्न सम्पादित हवियों को (अद्धि) खावें ।

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म यां उ च न प्रविद्म ।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥ १३ ॥

(ये, च, पितरः, इह) जो पितर यहां हैं (ये, च, न, इह) और जो यहां नहीं हैं (यान्, च, विद्म) जिन को हम जानते हैं (यान्, उ, च, न, प्र, विद्म) और जिन को नहीं जानते हैं (यति, ते) वे पितर जितने हैं (जातवेदः, त्वम्, वेत्थ) हे जातवेद ! उनको आप जानते हैं इस हेतु (स्वधाभिः, सुकृतम्, यज्ञम्) विविध प्रकार के अन्नों से संयुक्त इस यज्ञ को (जुषस्व) सेवें ।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभिः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥ १४ ॥

(ये, अग्निदग्धाः) जो अग्निविद्या में वा अग्निहोत्रादिक कर्मों में जिन्हों ने अपने शरीर को, मानो जला दिया है वे अग्निदग्ध पितर जो हैं (ये, अनग्निदग्धाः) और जो अग्निविद्या में निपुण नहीं हैं और (दिवः, मध्ये) जो दिव्यगुण के मध्य में (स्वधया, मादयन्ते) निज धर्म्म से आनन्दित होरहे हैं (स्वराट्) हे भगवन् ! (तेभिः, एताम्, तन्वम्) उन के इस शरीर को (यथावशम्, असुनीतिम्) यथायोग्य बलधारी (कल्पयस्व) बनाओ । इति पित्रादि निरूपणं समाप्तम् ।

तीन ही पुरुषों का श्राद्ध क्यों ?

पिता, पितामह, प्रपितामह एवं माता, पितामही, प्रपितामही इत्यादि तीन ही पुरुषों का श्राद्ध क्यों होता है ।

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । यजु० १९ । ३६ । एतत्ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७५ ॥ एतत्ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७६ ॥ अथर्व १८ । पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहाः । (संस्कारविधि विवाहप्रकरण) वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् । पितामहांस्तथाऽऽदित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी । मनु० ३ । २८४ ।

इत्यादि वाक्यों में तीन ही पीढ़ियों का श्राद्ध देखते हैं। ततामह प्रततामह शब्द का अर्थ पितामह, प्रपितामह क्रम से जानना। आजकल के भी जितने ग्रन्थ हैं उन में भी इन ही तीन पुरुषों को पिण्ड देने की विधि पाई जाती हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति के ऊपर टीका करने वाले विज्ञानेश्वरजी लिखते हैं "श्राद्धं द्विविधं, पार्वणमेकोद्दिष्टमिति। तत्र त्रिपुरुषोद्देशेन यत्क्रियते तत्पार्वणम्। एकपुरुषोद्देशेन क्रियमाणमेकोद्दिष्टम्।" श्राद्ध प्रकरण। श्राद्ध द्विविध है। पार्वण और एकोद्दिष्ट। तीन पुरुषों को उद्देश से जो किया जाता है वह पार्वण। एक पुरुष के उद्देश से क्रियमाण को एकोद्दिष्ट कहते हैं। यह तीन पुरुषों का श्राद्ध भी दिखलाता है कि ऋषियों के समय में जीवित ही श्राद्ध होता था। क्योंकि इतने ही पुरुषों के जीते रहने की सम्भावना से, भाव यह है कि कोई २ पुरुष अपने प्रपौत्र का भी मुख देखता है। जब तक प्रपौत्र विद्वान् हो गृह में लौट श्राद्ध करने के योग्य होता है तब तक एक आध ही पुरुष जीता है। अतिवृद्ध प्रपितामह की जीने की सम्भावना नहीं रहती है। अतः तीन ही पुरुषों का श्राद्ध कहा है। यदि यह मृतक श्राद्ध होता तो यह नियम लगाने का क्या प्रयोजन था ? जैसे अनन्त देवों को आवाहन कर लेते हैं वैसे सत्ययुग के पितरों से लेके आजतक सबों को बुलाते। यथार्थ में भोजन तो देना ही नहीं था एक पात्र में अन्न दिखलाके सन्तुष्ट करदेते थे। परन्तु यहां तो जीवितों से प्रयोजन था, अनन्त पितरों को कैसे बुला सकते हैं।

अमावास्या—मासिकश्राद्ध ॥

अमावास्यायां यदहश्चन्द्रमसं न पश्यति तदहः पिण्डपितृयज्ञं कुरुते। १। अपराह्णेऽधिवृक्षमूर्ध्वे वा पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति। २। (आपस्तम्ब श्रौतसूत्रे) पिण्डपितृयज्ञेऽपराह्णेऽमावास्यायाम्। शाङ्ख्यायन श्रौतसूत्रेऽध्याये। ४। अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञश्चन्द्रादर्शनेऽमावास्यायाम्। कात्यायनश्रौ०।०४-१-१ पितृयज्ञन्तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान्। पिण्डान्वाहार्य्यकं श्राद्धं कुर्य्यान्मासानुमासिकम्। पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः। मनु० ३-१२२ ॥

इत्यादि अनेक स्थानों में विशेष कर प्रत्येक अमावस्या में ही श्राद्ध करने की विधि देखी जाती है, अतएव "यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणम्" इत्यादि मुण्डकोपनिषद् में दर्श अर्थात् अमावस्या 'यज्ञ को न करनेवाले के लिये अनिष्ट कहा है। दर्शनाम अमावस्या का है "अमावास्या त्वमावस्या दर्शः सूर्येन्दुसंगमः" अब यहां शङ्का होती है कि यदि पितृयज्ञ जीवितयज्ञ होता तो प्रत्येक अमावस्या को ही यह यज्ञ विहित क्यों होता। क्या इतने दिन पितर भूखे बैठे रहेंगे ? और इस के लिये तब इतना बड़ा उद्योग और विधानही क्यों होता। समाधान-क्या अमावास्या अर्थात् मासिकयज्ञ के अतिरिक्त दैनिक पितृयज्ञ का विधान नहीं है ? देखो "कुर्य्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा। पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्" मनु० ३-८२ "अहरहः स्वधाकुर्य्यादोदपात्रात् तथैतं पितृयज्ञं समाप्नोति" "शतपथ ब्रा० काण्ड ११ इस मनु और याज्ञवल्क्य के वचन से प्रतिदिन पितृ-यज्ञ करने का भी विधान देखते हैं। फिर पितरों को भूखे कैसे मार सकते हो! यदि कहो तब मासिक-अमावास्या श्राद्ध की क्या आवश्यकता ?। ठीक है। यह जानना उचित है, यह पितृयज्ञ पूर्व समय में कई एक प्रकार के होते थे, महापितृयज्ञ; पिण्डपितृयज्ञ, पितृयज्ञ, अन्वाहार्य्यपितृयज्ञ वृद्धपितृयज्ञ, पार्वण, एकोद्दिष्ट आदि। अमावास्या तिथिको क्यों विशेष श्राद्ध विहित है ? इस का वर्णन प्रथम प्रकरण में ही "पितृगण और रात्रि" पृ० १५ "पितृगण और अमावास्यातिथि" पृ०१६ में विस्तार से किया गया है। वहां ही देखना चाहिये। यहां इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि सब आचार्य्यों ने इसी अमावास्या-श्राद्ध का अधिक वर्णन किया है आपस्तम्ब, शाङ्खायन, कात्यायन और मनु के प्रमाण दे चुके हैं, गोभिल भी श्राद्धकल्प में इसी का वर्णन करते हैं "अमावास्यायां पितृभ्यो दद्यात्" "पञ्चमीप्रभृति वाऽपरपक्षस्य" क्या कृष्णपक्ष क्या अमावास्यातिथि को ही क्यों प्रधान रक्खा है ? यह पुनः२ विचारणीय है। निश्चय, जैसा मैंने प्रथम प्रकरण में इस से "अध्यात्मगति" बतलाई, वही प्रयोजन है अन्य नहीं। और वह जीवित में ही घट सकता है। अब इस के सम्बन्ध में जो वेद और शतपथ में कहा है उस का भाव दिखलाते हैं।

अमावस्या और वेद-शतपथ ॥

वेदों के बहुत से मन्त्र पूर्व में संगृहीत हुए हैं परन्तु प्रायः कोई मन्त्र केवल मासिक श्राद्ध के प्रतिपादक नहीं हैं । यह भी दिखलाया है कि प्रत्येक शुभ कार्य्य में पितर आहूत होते हैं । हां, अथर्ववेद के एक स्थल में कहा है कि:—

तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददाति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद । अथर्व । ८ । १२ । ४ ।

इस हेतु पितरों को मास मास में भोजन देते हैं । जो ऐसा जानता है वह पितृयाण को जानता है । पुनः शतपथब्राह्मण द्वितीय काण्ड में इस प्रकार वर्णन आता है ।

प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन् । प्रजा वै भूतानि वि नो धेहि यथा जीवामेति । ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदन् तानब्रवीत् यज्ञो वोऽन्नममृतत्वं व ऊर्ग्वः सूर्य्यो वो ज्योतिरिति । १ । अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदन् तानब्रवीत् मासि मासि वोऽशनं स्वधा वो मनोजवो वश्चन्द्रमा वो ज्योतिरिति । २ । अथैनं मनुष्याः प्रावृता उपस्थं कृत्वोपासीदन् तानब्रवीत् सायं प्रातर्वोऽशनं प्रजा वो मृत्युर्वोऽग्निर्वो ज्योतिरिति । ३ । अथैनं पशव उपासीदन् । तेभ्यः स्वैरमेव चकार यदैव यूयं कदा च लभाध्वै यदि काले यद्यनाकालेऽथैवाश्नथेति तस्मादेते यदैव कदा च लभन्ते यदि काले यद्यनाकालेऽथैवाश्नन्ति । ४ ।

प्रजापति के निकट सब प्राणी पहुंचे । " निश्चय प्रजाएं ही प्राणी हैं " हमें पोषण पोषण करें जिस से हम जीवें देवगण यज्ञोपवीती हो दक्षिण जानु को टेक कर उन के समीप बैठ गए । प्रजापति ने उन से कहा कि यज्ञ आप का अन्न, अमृतत्व आप का बल और सूर्य्य आप का ज्योति होगा । १ । पितृगण प्राचीनावीती (दक्षिण कंधे पर से वाम अङ्ग की ओर यज्ञोपवीत को लटकाने वालों का नाम प्राचीनावीती है) वाम जानु को झुका समीप में बैठ गए । उन से कहा कि मास मास में आपका

अशन, स्वधा आप का मनोजव=मनोबेग और चन्द्रमा आप का ज्योति होगा । २ । तब मनुष्यगण वस्त्राऽऽवृत हो उपस्थान कर उपस्थित हुए । उन से कहा कि सायं-प्रातःकाल आपका अशन प्रजा आप की मृत्यु और अग्नि आप की ज्योति होगा ॥ ३ ॥ तब पशु उपस्थित हुए । उन के लिये स्वेच्छाचार का विधान किया और कहा कि जब कभी तुम लोग अन्न पाओ, समय वा असमय में, उसी समय खाओ । इसी कारण ये पशु जब ही पाते हैं काल में अथवा अनाकाल में तब ही खाया करते हैं । पुनः—

मासि मास्येव पितृभ्यो ददतो यदैवैष न पुरस्तान्न पश्चाद् ददृशेऽथैभ्यो ददाति । एष वो सोमो राजा देवानामन्नं यश्चन्द्रमाः । सएतां रात्रिं क्षीयते । तस्मिन् क्षीणे ददाति । ७ । स वा अपराह्णे ददाति । पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितॄणां तस्मादपराह्णे ददाति । ८ । शतपथकाण्ड २ ॥

उसको यह फल प्राप्त होता है जो मास मास पितरों को देता है । जब ही यह चन्द्रमा न पूर्व और न पश्चिम दीखता है तब ही पितरों को देता है यही सोमराजा देवों का अन्न है जो चन्द्र है वह इस रात्रि को क्षीण होता है । वह अपराह्ण समय में देता है । वेदों का पूर्वाह्ण, मनुष्यों का मध्याह्न और पितरों का अपराह्ण समय है अतः अपराह्ण में देता है ।

यहां पर भी मासिक-पितृ-यज्ञ का वर्णन देखते हैं । परन्तु इसका भी भाव समझना अब कठिन नहीं । यहां पर भी आप देखते हैं कि मासिक श्राद्ध से अभिप्राय उसी अमावास्या श्राद्ध का है और अपराह्ण का भी वर्णन है । अमावास्या तिथि में पितरों का यज्ञ क्यों कहा है इस का वर्णन पूर्व में होगया है मुख्य तत्त्व वही है । परन्तु उसके साथ इतना और भी विशेष जानो । यहां रक्षकगणों की सेवा का नाम पितृयज्ञ है । अमावास्या तिथि में चन्द्र के अभाव से रक्षा की अति आवश्यकता होती है । इस हेतु मासिक यज्ञ यहां उक्त है । अथवा इसको यों समझना चाहिये कि पूर्वकाल में **वानप्रस्थाश्रम** भी नियम से चलता था जिसके लिये अनेक आरण्यकग्रन्थ लिखे गये थे । ज्यों ही पुत्र पौत्र होजाते थे त्योंही गृह छोड़ बन को चले जाते थे । इनके लिये

ऋषियों ने वेद में चिह्न या मासिक यज्ञ बताया । अर्थात् सब गृहस्थ पुरुषों को [illegible] दिया गया कि उन वानप्रस्थियों को कम से कम मास में एक दिन अमावास्या तिथि को आप लोग सत्कार किया करो । इसहेतु पितरों को मासिक अशन अर्थात् भोजन विहित है । इसका आशय यह नहीं है कि पितृगण २९ दिन कुछ नहीं खाते थे । नहीं । वे सब दिन खाते थे । बन में उनके भरण पोषण के लिये सब प्रबन्ध रहता था । गृहस्थों के यहां मास मास ही इनका आगमन था । गृहस्थाश्रम में फिर इनकी आसक्ति प्रीति न होजाय पुनः जिससे निकले हैं उसी में बद्ध न होजांय, गृहस्थों को भी अधिक भार न हो और कभी २ आने में पितरों में अधिक भक्ति भी बनी रहे इत्यादि कारणवश मासिक यज्ञ कहा है । जैसे आजकल एकादशी २ वा संक्रान्ति २ में ब्राह्मण भोजन विहित है परन्तु क्या अन्यान्य तिथियों में ब्राह्मण भूखे ही रहते । उसी तिथि को देखते हुए क्या उपवास करते हैं । ऐसे ही पितरों के विषय में भी जानना चाहिये । यह मासिक श्राद्ध सब पितरों के लिये विहित नहीं है जो रात्रिरक्षक और वानप्रस्थी हैं उनके लिये ही है । क्योंकि दैनिक पितृयज्ञ में कोई नियत तिथि नहीं और यह भी देखा जाता है कि प्रत्येक शुभ कर्म्म में पितर बुलाये जाते हैं यदि इन के लिये केवल मासिक ही यज्ञ नियत हो तो प्रत्येक शुभ कर्म में वे कैसे बुलाये जासकते हैं । एवं आजकलभी अष्टमी आदि तिथि पितरोंकी कही गई हैं दर्श-पौर्णमास यज्ञ अवश्य करे एतदर्थ यहां मासिक यज्ञ कहा है दैनिक यज्ञ का प्रमाण पूर्व में दिया है "पितरों की ज्योति चन्द्रमा है" इस का भी भाव सुगम है । मैं इसी शतपथ के वचन से कह चुका हूं कि दिन देव है और रात्रि पितर है इत्यादि । रात्रि नैराश्य-सूचक, शीत-प्रद अन्धकार-ज्योति-मिश्रित है इसी प्रकार चन्द्र भी पितरों की वह यौवनावस्था की उष्णता जाती रही अब चन्द्रवत् शीतल हो रहे हैं इत्यादि भाव जानना । द्वितीयपक्ष में यों व्याख्या पितर जो रात्रि-रक्षक उन्हें चन्द्रमा बड़ा सहायक होता है चान्द्रमसी रात्रि में [illegible] रहता है । इस पर पूर्व में भी लेख लिखा गया है देखिये । पितर प्राचीनावीती हैं अर्थात् आजकल जैसे हम लोग यज्ञोपवीत पहिनते हैं उससे विपरीत यज्ञोपवीत पितर धारण करते हैं अर्थात् दक्षिण कंधे पर से वाम बाहु के नीचे यज्ञोपवीत लटका हुआ

रहता है । यह विधि भी जीवित पितृयज्ञ सिद्ध करता है । यज्ञोपवीत कर्म चिन्ह है युवावस्था तक यज्ञोपवीत दक्षिण भाग में लटकता है अर्थात् जैसे दक्षिण भागस्थ हाथ बलिष्ठ, अधिक कर्मपरायण और पौरुष युक्त है तद्वत् यौवनावस्था तक मनुष्य बलिष्ठ और सततकर्मपरायण आदि रहता है जब यौवन गिरता है तब वामाङ्गवत् शिथिल स्वल्प: कर्मपरायण होजाता है । अतः वृद्धत्व-प्राप्ति के कारण शिथिल और वनी बनते हुए पितृगण यज्ञोपवीत को भी वामाङ्गस्पर्शी कर लेते थे । अतः पितरों के वर्णन में प्राचीनावीती शब्द आता है । यह चिन्ह भी जीवत्पितरों का श्राद्ध बतलाता है । अब यदि कोई यह कहे कि यहां देव, पितर, मनुष्य, पशु आदि प्राणी भिन्न २ योनिएं हैं । अतः मनुष्य से पितर भिन्न योनि है यह सिद्ध होता है । यह भी ठीक नहीं । क्योंकि मैं पूर्व में लिख आया हूं कि पितर भी मनुष्य के ही भेद हैं । इन को भिन्न इस लिये रक्खा है कि ये प्रायशः वन में रहते थे गणशः रक्षा के कार्य्य में लगे रहते थे । जैसे आजकल संन्यासी वा उदासी । अतः मनुष्यों से उन्हें भिन्न गिना है । मनुष्य शब्दार्थ यहां साधारण प्रजा है । यदि कहो कि पितर भी मनुष्य ही हों तो इन्हें भी दोनों समयों भोजन विहित होना चाहिये । समाधान । यहां पितरों के लिये पराधीन भोजन की चर्चा है । जैसे सूर्य्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देवों के लिये पराधीन यज्ञ विहित है तद्वत् । क्या यदि मनुष्य सूर्य्यादि देवों के लिये यज्ञ न करें तो क्या वे मर जायंगे । नहीं । ये तो जड़ पदार्थ हैं हम यज्ञ करें या न करें ये सदा एकरस रहेंगे । यज्ञ से हमारी भलाई होती है । जल, वायु स्वच्छ होजाता है । जहां हम रहते हैं वहां की वायु में दुर्गन्धि नष्ट होजाती है इस प्रकार यज्ञसे हम अपना ही लाभ पहुंचाते हैं । इसी प्रकार यह भी हमारा कर्तव्य है कि कम से कम मास में एकवार भी पितरों को बुलाके अपने गृह पर पूजें । अतः यहां मासिक भोजन कहा गया है । अब यदि पितरों को भिन्न योनि मानोगे तो आपके पक्ष में भी नित्य पितृयज्ञ सिद्ध नहीं होगा अतः ये पितर मनुष्यान्तर्गत ही मानने पड़ेंगे अब यह भी समझना कठिन नहीं कि इस मासिक दर्शयज्ञ के लिये इतना क्यों उद्योग है । मैं कह चुका हूं कि प्रायः वानप्रस्थी और रक्षक पितरों के लिये ही यह दर्शयज्ञ है । इसी का नाम ' पार्वण ' भी है । इस में अरण्यसेवी पिता, पितामह, प्रपितामह,

माता, पितामही, प्रपितामही आदि अपने सम्बन्धी और इन के सहवासी इन सबों को बुलाके पूजते थे। एक तो यह विधि थी। दूसरी विधि यह थी कि इसी तिथि को देश-रक्षक अग्निष्वात्त, अग्निदग्ध, बर्हिषद्, सोमसद आदि पितृगण विशेष कर बुलाये जाते थे। इन सबों की संख्या अधिक होने के कारण ऐसा बड़ा संभार करना पड़ता था। इस से बढ़ के पवित्र और श्रद्धाजनक अन्यान्य कौनसा कार्य्य हो सकता है और जो दैनिक पितृयज्ञ विहित है उस में एक दो पितरों को ही सत्कार करने का विधान है अधिक उद्योग करना नहीं पड़ता था। यदि आप कहें कि वह तो मनुष्ययज्ञ वा अतिथियज्ञ में आ जायगा। नहीं। अतिथि, बाल, वृद्ध, युवा, ज्ञानी, अज्ञानी सब ही हो सकता है परन्तु पितर तो क्या वृद्ध, क्या रक्षक आचार्य्य, सभापति, न्यायकर्ता, सेनानायक, परोपकारपरायण, परम देशभक्त आदि ही हो सकता है यही भेद है। इसी कारण इस दर्शयज्ञ को पिण्डपितृयज्ञ कहते हैं इस में सर्वोत्तम पदार्थ पितरों के लिये पकाए जाते हैं। अतः पिण्डशब्द का प्रयोग हुआ है। अन्वाहार्य्य भी इसी का नाम है। दैनिक पितृयज्ञ के पश्चात् आहार्य्य अर्थात् आहार योग्य सामग्री जिस में तैयार की जाय इसी 'अन्वाहार्य्य श्राद्ध' को मनुजी ने भी मासिक कहा है और इसी यज्ञ के लिये तृतीयाध्याय में बड़ा भारी विधान किया है। जिस में केवल एक ही पितर बुलाये जायँ उसे एकोद्दिष्ट कहते हैं। और जो वर्ष वर्ष आश्विन, कार्तिक आदि मास में किया जाय वह बृहत् पितृयज्ञ कहाता है। इस में सन्देह नहीं कि इन सबों का भाव सर्वथा आज परिवर्तित होगया है। वेदों को छोड़ और किसी में इन का यथोचित वर्णन नहीं पाते हैं। अतः आज ज्ञान-दुर्बल पुरुष पद २ सन्देह में पड़े हुए हैं।

अष्टम प्रश्न पर विचार।

यह बात प्रसिद्ध है कि श्राद्धस्थान में भी संन्यासी को आने नहीं देते और मरने पर इस के लिये पिण्डदानादि क्रिया नहीं करते। ऐसा क्यों? यदि मृतकश्राद्ध नित्य और वेदविहित है तो इस आत्मा के लिये भी चाहिये। यदि कहो कि संन्यासी मुक्त होजाता है अतः इस के लिये किसी क्रिया की आवश्यकता नहीं। एवमस्तु। थोड़ी देर यह मान भी लेवें। अब यह कहो कि श्राद्धस्थान में संन्यासी को आने का भी निषेध

क्यों ? इस का दर्शन भी मना क्यों ? यदि कहो कि इस ने सर्व्व कर्म्म का परित्याग कर दिया है । अतः कर्म्म देखने का भी अधिकार नहीं । प्रथम तो यह मत ही शास्त्र-विरुद्ध है । गीता में कृष्णजी कहते हैं कि " अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः" पुनः मनुजी कहते हैं " अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च । आध्यात्मिकञ्च सततं वेदान्ताभिहितञ्च यत्" ६ । ८३ । इत्यादि प्रमाणों से उस के योग्य कर्म्म का भी विधान देखते हैं । अथवा जिसने व्याकरण पढ़ के न्याय पढ़ना आरम्भ किया है क्या उस के लिये व्याकरण देखना भी मना कर दिया जायगा । दूसरी बात यह है कि संन्यासीमात्र मुक्त हो जाते हैं यह कोई नियम नहीं । और अन्यान्य आश्रम के समान संन्यासाश्रम भी नित्य कहा गया है । अतः चतुर्थपन में सब ही संन्यासी होवेंगे और तुम्हारे कथनानुसार सब मुक्त भी होंगे फिर किसी का श्राद्ध नहीं होना चाहिये यह मेरा ही पक्ष पुष्ट होगा । हां, आप के मत से शूद्र को संन्यासी होना निषेध है । तब केवल शूद्र के लिये यह श्राद्ध है यह सिद्ध होगा । एवमस्तु, यह संन्यासी-श्राद्ध-निषेध हमें सूचित करता है कि पूर्व में मृतकश्राद्ध नहीं था । पहले यह जानना चाहिये कि पूर्वकाल में जैसे ब्रह्मचर्य्य गार्हस्थ्य आश्रम नियम पूर्वक पालते थे वैसे ही वन्य और संन्यास आश्रम को भी विधिपूर्वक निवाहते थे । वृद्धावस्था आने पर गृह को छोड़ पुत्र पर सब भार रख वन में ज्ञान वृद्धि के लिये चले जाते थे । अरण्य में तपोभूमि सुन्दर २ बनी रहती थी प्रजा और राजाओं का इन की रक्षा के लिये बड़ा सुप्रबन्ध रहता था । यहां ही वे वृद्ध वनी संन्यासी पितर अपने इस भौतिक शरीर को त्यागते थे । इन का दाह संस्कार यहां ही राजा के प्रबन्ध से अच्छे प्रकार होजाता था । अब आप विचार सकते हैं कि पुत्र को तो अपने पिता पितामहादिक के शवको दग्ध करनेको भी मोका नहीं मिलता था । और न उन्हें मालूम ही होता था कि मेरा पिता पितामह कहां मरा और कहां गया वह किस को पिण्ड देता या कब देता । सूर्य्य, चन्द्रवंशी बड़े २ राजाओं की भी ऐसी ही गति हुई है । संन्यासीगण प्रायः एक आश्रम से दूसरे आश्रम को उपदेशदानार्थ घूमते ही रहते थे । जहीं कहीं इन का प्राण छूटजाता था । इस प्रकार जब ये चारों आश्रम नियम से पाले जाते थे

तब इस मृतक श्राद्ध या दशगात्र पिण्डादिकों का कोई मौका नहीं आता था। अब आगे चलिये। जब यह आश्रमधर्म्म टूट गया लोग आलसी होगये तब से वृद्धलोग भी अपने गृह में ही मरने लगे। धीरे २ सब कुसंस्कार की बातें चल पड़ीं। इस वन्याश्रम की रक्षा यहां तक लोग करते थे कि यह व्यवहार सम्पूर्ण भारत में अभी तक चला आता है कि गृह के अभ्यन्तर किसी को मरने नहीं देते हैं। उस समय शय्या बाहिर ले आते हैं और कुशादिक पर लेटा देते हैं। यह एक वन्याश्रम का नकल है जैसे आजकल वेदारम्भ की नकल उतारते हैं। अब आप देख सकते हैं कि संन्यासी का मृतकश्राद्ध क्यों निषेध है? पहिले से ही यह श्राद्ध संन्यासी के लिये नहीं था। जब आश्रमभग्न होने से मोहवश श्राद्ध करने लगे तो उस समय भी यह वैदिक मत बना रह गया कि जो संन्यासी होजाय उस को तो श्राद्ध मत करो अन्यान्य का श्राद्ध किया करो। इस से विस्पष्टतया सिद्ध होता है कि जब से वानप्रस्थ और संन्यासआश्रमों का पालन बन्द होगया तब से ही यह बखेड़ा चला है और यह इतिहास से सिद्ध है कि बुद्ध के पीछे नियम पूर्वक आश्रम पालन नहीं रहा अतः बौद्ध धर्म्म के समय में यह कुसंस्कार चल पड़ा यह दृढ़ अनुमान होता है। इति संक्षेपतः।

नवम दशम प्रश्न पर विचार ॥

पितर और द्वादशाह श्राद्ध ॥

मृत्यु होने पर १० दिन लगातार गात्रपूरक पिण्ड देते हैं। और एकादशाह और और द्वादशाह कर्म्म करके समाप्त करते हैं। लोग समझते हैं कि तबतक मृतक प्रेत इसी पृथिवी पर रहता है। अब मृत पुरुष किस योनि में गया इस की भी अनेक परीक्षा करते हैं। ब्राह्मण के लिये द्वादशाह क्षत्रिय के लिये चतुर्दशाह, वैश्य के लिये सप्तदशाह और शूद्र के लिये ३२ द्वात्रिंशाह विहित है। परन्तु सब का नाम द्वादशाह ही है। प्रथम तो यह विधि ही बिलकुल काल्पनिक और ईश्वरीय नियम से विरुद्ध है। देखो, चारों वर्ण करीब दशमास में सन्तान उत्पन्न करते हैं इस उत्पत्ति में कोई भी भेद नहीं। इसी प्रकार बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य होने में भी कोई भेद नहीं देखते, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समान नियम से ही लड़के, युवा और बूढ़े होते हैं।

ऐसा कदापि नहीं देखा गया है कि ब्राह्मण का सन्तान तो जल्दी उत्पन्न हो, क्षत्रिय का कुछ उस के बाद, वैश्य का उस से भी बाद और शूद्र का सब से देर करके सन्तान उत्पन्न होता हो। इसी प्रकार प्रत्येक विषय में समानता ही पावेंगे। परन्तु मृतक श्राद्ध में यह असमानता क्यों? यह असमानता ही प्रथम दिखलाती है कि अहंकार और अज्ञानवश मनुष्यों ने यह द्वादशाह-श्राद्ध चलाया है। क्या ईश्वरीय नियम मृत ब्राह्मण को यहां १२ बारह दिन और शूद्र को ३२ दिन रहने देगा? ऐसा कदापि नहीं। जब सर्वत्र यह नियम समान-रूप से कार्य्य करता है तब केवल इस में भेद क्यों कर सकता है। एवमस्तु। क्या वेदों और आर्ष-ग्रन्थों में कहीं इस द्वादशाह की चर्चा है। उत्तर नहीं। इस का खोज कई प्रकार से होसकता है। श्मशान में जो ऋचाएं पढ़ी जाती हैं उन में इस का कोई चिन्ह पाया जाता या नहीं? एवं मरने के समय प्राचीन लोग अपने पुत्र से इस कर्म के लिये कहजाते थे या नहीं? कहीं अन्यत्र इस की विधि है या नहीं? प्रथम कतिपय ऋचाएं सुनाता हूं जो श्मशान में पढ़ी जाती हैं॥

मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं वि चिपो मा शरीरम्।
यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः॥ ऋ० १०।१६

मानवीय-स्वाभाविक प्रेम सूचनार्थ दहन समय की यह प्रार्थना है। (अग्ने+मा+एनम्+विदहः) हे प्रकाशमय भगवन्! शरीरवत् इस जीवात्मा को विदग्ध न करें। (मा+अभि+शोचः) इस को सन्तप्त न करें (मा+अस्य+त्वचम्+मा+शरीरम्+विक्षिपः) न तो इस की त्वचा को और न इस के शरीर को विक्षिप्त करें (जातवेदः+यदा+शृतम्+कृणवः) हे जातवेद! जब इस को परिपक्व करना (अथ+एनम्+पितृभ्यः+प्रहिणुतात्) तब इस को पितरों के निकट पहुंचा देना।

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात्पितृभ्यः।
यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति। १०।१६।२॥

(जातवेदः, यदा, एनम्, शृतम्, करसि) हे जातवेद! जब ही इस को परि... (अथ, ईम्, पितृभ्यः, परिदत्तात्) तब ही यह पितरों को देवें। (यदा

एतम्, असुनीतिम्, गच्छति) जब यह जीवात्मा इस असुनीति अर्थात् प्राणप्रापक गति को पाता है (अथ, देवानाम्, वशनीः भवाति) तब ही पुनः इन्द्रियों के वश में हो-जाता है ॥

ये दोनों मन्त्र सूचित करते हैं कि मरण के अनन्तर ही अपने स्थान को प्रस्थान करता है। १२ बारह दिनों वा १५ दिनों के लिये नहीं ठहरता। यहां पितृशब्द उपलक्षक है यदि सुकर्म्मी रहता है जो जहां उस के पूर्वज पितृगण गए वहां चला जाता वा मुक्त पुरुषों के निकट जाता वा अपने कर्म्मानुसार इसी पृथिवी पर पुनः जन्म ग्रहण करता है। यदि द्वादशाह का विधान होता तो इन मन्त्रों में कहाजाता कि १२ बारह दिन यहां ठहरजाना। ऐ प्रेत ! इस के बाद जहां कर्म्म ले जाय वहां जाना।

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्याञ्च गच्छ पृथिवीं च धर्म्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥ ऋ० १०। १६। ३॥ सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्म्मभिः। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥ अथर्व० १८। २। ७॥

मृत वा मुमूर्षु पुरुष के लिये यह स्वाभाविक प्रार्थना है (चक्षुः, सूर्यम्, गच्छतु) तेरा चक्षु सूर्य को प्राप्त हो (आत्मा वातम्) आन्तरिक प्राण बाह्य-वायु को प्राप्त हो अर्थात् इस शरीर में जिस का जो भाग है वह वहां प्राप्त हो। हे मुमूर्षु पुरुष! तू (धर्म्मणा) अपने धर्म्म के अनुसार (द्याम्, च, गच्छ, पृथिवीम्, च) मुक्तिसुख भोगने के लिये अन्तरिक्ष को अथवा जन्म-ग्रहणार्थ इसी पृथिवी को प्राप्त हो (अपः, वा, गच्छ) अथवा जल को प्राप्त हो (यदि, तत्र, ते, हितम्) यदि तेरा वहां कोई हित हो अथवा (ओषधीषु, शरीरैः, प्रतिष्ठ) ओषधियों में शरीरावयवों से स्थित रहो अर्थात् जैसे तेरे कर्म्म हैं तदनुसार तत्तत् योनि में जाओ। अथर्ववेदीय मन्त्र का भी यही भाव है।

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः। यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामुलोकम्॥ १०। १६

इस शरीरमें अज और जन्मवान् दो भाग हैं । जीवात्मा अज और सब जन्मवान् है । यह देह, आंख, कान, नाक आदि अग्नि में भस्म होजाते हैं परन्तु यह अज जीवात्मा एक ही रस रहता है । इसी को इस मन्त्र में दिखलाते हैं । यहां यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जैसे हम पृथिवी की सहायता से चलते हैं वायु से जीते हैं वैसे ही यह जीवात्मा मृत्यु के बाद वायु, विद्युत् आदि की सहायता से गमनागमन करेगा । इस हेतु चितास्थ अग्नि को सम्बोधित कर कहा जाता है यहां उपलक्षणमात्र है । (अजः, भागः) जननरहित, शरीरेन्द्रियादि भाग व्यतिरिक्त जो जीवात्मस्वरूप भाग है (तम्, तपसा, तपस्व) हे अग्ने ! उसको निज ताप से शुद्ध करो (ते, शोचिः, तम्, तपतु) तेरी ज्वाला उसको तप्त करे (ते, अर्चिः) तेरी अर्चि उसको तप्त करे (जातवेदाः) हे जातवेदा ! (याः, ते, शिवाः, तन्वः) जो तेरी वायु, विद्युत, सूर्य, चन्द्र आदि मूर्तियां सुखप्रद हैं (ताभिः, एनम्, सुकृताम्, उ, लोकम्, वह) उन मूर्तियों से इस जीवात्मा को सुकर्मी पुरुषों के लोक में ले जाओ ॥ ४ ॥

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः ।
आयुर्वसान उपवेतु शेषः संगच्छताम् तन्वा जातवेदः ॥१०।१६।५॥

(जातवेदः, अग्ने) हे सर्वज्ञ प्रकाशस्वरूप देव (ते, आहुतः, यः, स्वधाभिः, चरति) आप को समर्पित होके जो स्वाभाविक धर्म्मों के साथ विचरण करता है (पुनः, पितृभ्यः, अवसृज) इसको पितरों के साथ मिला दो (शेषः) यह शेष जीवात्मा (आयुः, वसानः, उपवेतु) आयु से युक्त हो कर्म्मानुसार शरीर को प्राप्त करे । हे भगवन् ! (तन्वा, संगच्छताम्) शरीर से यह संगत होवे ।

यत्ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः ।
अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥ १०

सर्प, व्याघ्र, पिपीलिका आदिकों से जिसकी मृत्यु हुई है उस के लिये ईश्वर से प्रार्थना है (यत्) जो (ते) तुम्हें (कृष्णः, शकुनः, आतुतोद) कृष्ण अर्थात् विषधर पक्षी ने दुःख दिया है अथवा (पिपीलः०) पिपीलिका, सर्प, श्वापदादिकों ने

आहत किया है और इस अकालमृत्यु से जो तुम दूषित हुए हो (तत्) उस सब से (विश्वात्, अग्निः) सर्वसंहर्त्ता अग्नि (अगदम्, कृणोतु) निर्दोष करे और (यः, ब्राह्मणान्, आविवेश) जो ब्राह्मणों में प्रविष्ट है अर्थात् जिस को ब्रह्मवित् पुरुषों ने धारण किया है (सोमः, च) वह सर्वमंगलप्रद ईश्वर तुम को निर्दोष करे ॥६॥ इत्यादि ऋग्वेदीय ऋचाएं हैं, किन्हीं में द्वादशाह की चर्चा नहीं। अब आगे यजुर्वेद के मन्त्र दिखलाते हैं ॥

स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः । पृथिव्यै स्वाहा । अग्नये स्वाहा । अन्तरिक्षाय स्वाहा । वायवे स्वाहा । दिवे स्वाहा । सूर्य्याय स्वाहा ॥ यजुः ३९ । १ ॥

साधिपतिक प्राण, पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ और सूर्य को स्वत्वत्याग की शक्ति प्राप्त है " स्वम् आसमन्ताज्जहाति यया क्रियया सा स्वाहा " निज धन सम्पत्ति आदि का त्याग जिस क्रिया के द्वारा हो उसे स्वाहा कहते हैं । पृथिवी आदि सकल जड़ वस्तु अपने स्वत्व त्याग से ही हम चेतन जीवों की रक्षा करती हैं अतः इनके लिये 'स्वाहा' कहा गया है । "सुष्ठु आह सुहुतं भवतु" इत्यादि भी स्वाहा के अर्थ होते हैं ।

दिग्भ्यः स्वाहा । चन्द्राय स्वाहा । नक्षत्रेभ्यः स्वाहा । अद्भ्यः स्वाहा । वरुणाय स्वाहा । नाभ्यै स्वाहा । पूताय स्वाहा ॥ २ ॥ वाचे स्वाहा । प्राणाय स्वाहा । चक्षुषे स्वाहा । चक्षुषे स्वाहा । श्रोत्राय स्वाहा । श्रोत्राय स्वाहा ॥ ३ ॥ लोमभ्यः स्वाहा । लोमभ्यः स्वाहा । त्वचे स्वाहा । त्वचे स्वाहा । लोहिताय स्वाहा । लोहिताय स्वाहा । मेदोभ्यः स्वाहा । मेदोभ्यः स्वाहा । मांसेभ्यः स्वाहा । मांसेभ्यः स्वाहा । स्नावभ्यः स्वाहा । स्नावभ्यः स्वाहा । अस्थभ्यः स्वाहा । अस्थभ्यः स्वाहा । मज्जभ्यः स्वाहा । मज्जभ्यः स्वाहा । रेतसे स्वाहा । पायवे स्वाहा ॥ १० ॥ आयासाय स्वाहा । प्रायासाय स्वाहा । संया-

साय स्वाहा । वियासाय स्वाहा । उद्यासाय स्वाहा । शुचे स्वाहा । शोचते स्वाहा । शोचमानाय स्वाहा । शोकाय स्वाहा । ११ । तपसे स्वाहा । तप्यते स्वाहा । तप्यमानाय स्वाहा । तप्ताय स्वाहा । घर्माय स्वाहा । निष्कृत्यै स्वाहा । प्रायश्चित्यै स्वाहा । भेषजाय स्वाहा ॥ १२ ॥ यमाय स्वाहा । अन्तकाय स्वाहा । मृत्यवे स्वाहा । ब्रह्मणे स्वाहा । ब्रह्महत्यायै स्वाहा । विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ १३ ॥

ये सब वैदिक वाक्य चिता में आहुति डालने के समय पढ़े जाते हैं । द्वादशाह की कहीं चर्चा नहीं ।

पिता-पुत्रीय-सम्प्रदान ॥

अथातः पितापुत्रीयं सम्प्रदानमिति चाचक्षते । पिता पुत्रं प्रेष्यन्नाह्वयति । नवैस्तृणैरागारं संस्तीर्य अग्निमुपसमाधाय उदकुम्भं सपात्रमुपनिधाय अहतेन वाससा सम्प्रच्छन्नः पिता शेते । एत्य पुत्र उपरिष्टादभिनिपद्यते । इन्द्रियैरिन्द्रियाणि संस्पृश्य आसीनाय अभिमुखायैव सम्प्रदद्यात् । अथास्मै संप्रयच्छति । कौशीतकी ब्राह्मणोपनिषद् ॥

अब पिता-पुत्रीय सम्प्रदान कहते हैं । मरने के समय पिता पुत्र को बुलवाता है प्रथम पृथिवी पर नवीनतृणों को बिछा अग्नि रख, सपात्र जलकलश स्थापित कर नवीन वस्त्र पहिन पिता सोजाता है । पुत्र आके उस के ऊपर धीरे और नम्रता प्रेम से पड़जाता है । तब पिता पुत्र के आंख, कान, आदिक इन्द्रियों को स्पर्श करके सामने बैठे हुए उस पुत्र को देखता है और पीछे इस प्रकार पुत्र से कहता हुआ समर्पण करता है

वाचं मे त्वयि दधानीति पिता । वाचं ते मयि दधे इति पुत्रः । प्राणं मे त्वयि दधानीति पिता । प्राणं ते मयि दधे इति पुत्रः । चक्षुर्मे त्वयि दधानीति पिता । चक्षुस्ते मयि दधे इति पुत्रः । अन्नरसान् मे त्वयि द० । अन्नरसांस्ते मयि द० । कर्म्माणि मे त्वयि । कर्म्माणि ते मयि० । सुखदुःखे मे त्वयि० । सुखदुःखे ते मयि० । आनन्दं, रतिं, प्रजापतिं मे त्वयि० । आनन्दं रतिं प्रजापतिं ते मयि० । मनो मे त्वयि० । मनस्ते मयि० । प्रज्ञां मे त्वयि० । प्रज्ञां ते मयि० इत्यादि ।

पिता—मैं अपनी वाणी तुझ में स्थापित करूं ।

पुत्र—आप की वाणी को मैं अपने में स्थापित करता हूं ।

पिता—मैं अपने प्राण को तुझ में स्थापित करूं ।

पुत्र—आप के प्राण को मैं अपने में स्थापित करता हूं ।

पिता—मैं अपनी चक्षु को तुझ में स्था० ।

पुत्र—आप की चक्षु को मैं अपने में स्था० ।

पिता—मैं अपने अन्न रसों को तुझ में स्था० ।

पुत्र—आप के अन्न रसों को मैं अपने में स्था० ।

पिता—मैं अपने कर्म्मों को तुझ में स्था० ।

पुत्र—आप के कर्म्मों को मैं अपने में स्था० ।

पिता—मैं अपने सुख दुःख को तुझ में स्था० ।

पुत्र—आप के सुख दुःख को मैं अपने में स्था० ।

पिता—मैं अपने आनन्द, रति, प्रजापति को तुझ में स्था० ।

पुत्र—आप के आनन्द, रति, प्रजापति को मैं अपने में स्था० ।

पिता—मैं अपने मन को तुझ में स्था०

पुत्र—आप के मन को मैं अपने में स्था० ।

पिता—मैं अपनी प्रज्ञा को तुझ में स्था० ।

पुत्र—आप की प्रज्ञा को मैं अपने में स्थापित करता हूं ।

इत्यादि मरणकाल में पिता पुत्र में सम्वाद होता है । यदि उस समय मृतकश्राद्ध होता रहता तो ऐसे आवश्यक कर्म्म की यहां चर्चा अवश्य होती । परन्तु नहीं है । इस से मालूम होता है कि मृतकश्राद्ध उस समय में नहीं प्रचलित था ।

द्वादशाह श्राद्ध और देवयान, पितृयाण और जायस्व, म्रियस्व मार्ग ।

मरने के अनन्तर यह जीव तीन मार्गों से गमन करता है ऐसा वर्णन उपनिषदों में आया है । सब से उत्तम पुरुष देवयान पथ से, मध्यम पितृयाण पथ से, निकृष्ट, जायस्व म्रियस्व पथ से गमनागमन करते हैं । यहां पर भी " तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव

हरन्ति " छा० उ० । अग्नि में भस्म कर देने की चर्चा देखते हैं परन्तु द्वादशाह की नहीं । यहां पर कहा गया है कि प्रथम अर्चि, दिन, आपूर्यमाणपक्ष, उत्तरायण, सम्वत्सर, आदित्य, चन्द्र विद्युत् आदि के द्वारा ब्रह्मदशा को प्राप्त होता है । अब आप विचार सकते हैं कि द्वादशाह श्राद्ध होता रहता तो यहां पर अवश्य इस की चर्चा आती और अवश्य कहा जाता कि मृत वा प्रेत पुरुष द्वादश दिवस पृथिवी पर ठहर के पुनः उन मार्गों के द्वारा ब्राह्मी दशा को प्राप्त होता । परन्तु सो नहीं कहा है अतः द्वादशाह श्राद्ध अवैदिक अनार्ष है ।

द्वादशाह और मनुस्मृति आदि ॥

प्र०—क्या इस द्वादशाह श्राद्धकी चर्चा मनुस्मृति आदि पुस्तकों में है ? **उ०**—नहीं । मनुस्मृति में केवल शुद्धि की चर्चा देखते हैं । "शुद्धचेद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः । वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्धयति । मनु० ५ । ८३ । इस सामान्य नियम से मनु का तात्पर्य्य केवल यह प्रतीत होता है कि मृत पुरुष के लिये स्वभावतः पुत्र पौत्रादिकों को शोक होजाता है इस हेतु नियम बांधा है । विप्र बारहवें दिन अवश्य शोक मोह त्याग अपने शुभकर्म्म में लग जाय । इसी प्रकार क्षत्रियादि को भी उचित है । जितने २ अज्ञानी अधिक हैं उतना उनके लिये शोक अधिक कहा गया है । जब मनु धर्म्मशास्त्र भी इसके लिये कोई आज्ञा नहीं देता है तब कैसे यह अन्धपरम्परा चल पड़ी, मैं नहीं कह सकता । इसी प्रकार श्रौत वा गृह्यसूत्रों को भी जानें । उन में इस द्वादशाह का वर्णन कहीं भी नहीं है । **प्रश्न**—मरण के अनन्तर प्रेत के लिये कुछ करना चाहिये या नहीं ? **उ०**—केवल शव (मृतशरीर) को विधिपूर्वक अग्नि में भस्म करदेना चाहिये । इस के सिवाय अन्य कोई कर्म्म प्रेत के लिये नहीं होना चाहिये क्योंकि वेदों में इस की कोई भी विधि नहीं । यदि कहो कि रामायण और महाभारत आदिकों में प्रेतकर्म्म विहित है, फिर आप कैसे कहते हैं कि प्रेतकर्म्म नहीं होना चाहिये । सुनो ! हमने आप को वेदों के अनेक प्रमाण दिये उन से प्रेतकर्म्म सिद्ध नहीं होता । फिर वेद से अविहित कर्म्म को हम कैसे बतलावें । रामायण आदिकों में समय समय पर ह्रास और वृद्धि होती गई है इस हेतु इन पुस्तकों से धर्म्मनिर्णय नहीं कर सकते । वेद सृष्टि की आदि से एकरस चला आया है अतः वेदों से जो निर्णय हो वही कर्तव्य है ।

पितृऋण और पुत्रशब्दार्थ ॥

बहुत लोग कहते हैं कि मरने के अनन्तर पिण्ड देने के वास्ते ही पुत्रजन्म की आकांक्षा करते हैं अन्यथा पुत्र की आवश्यकता ही क्या ? अपुत्रस्य गतिर्नास्ति । महाभारत में कहा गया है कि " स ददर्श पितॄन् गते लम्बमानानधोमुखान् । एकतन्त्ववशिष्टान् वै वीरणस्तम्बमाश्रितान् । तं तन्तुञ्च शनैराखुमाददानं बिलेशयम् । इत्यादि आदि पर्व ४५। जरत्कारु नामक पुरुष ने विवाह नहीं किया इस कारण इस के पितर स्वर्ग से गिर के किसी खाई में अधोमुख आ लटके । केवल वीरण का एक ही तन्तु उन का आलम्बन था उसे भी चूहा खा रहा था । ऐसी दशा को प्राप्त पितरों को देख उन के उपदेश से जरत्कारु ने विवाह किया । इस से भी सिद्ध होता है कि मृतकश्राद्ध करना चाहिये । पुनः 'पुत्र' शब्दार्थ ही है कि जो 'पुत्' नाम के नरक से रक्षा करे । समाधान । मरण के अनन्तर पिण्ड देने के लिये ही पुत्र है इस की चर्चा कहीं नहीं है । जरत्कारु की आख्यायिका गृहस्थाश्रम की प्रशंसामात्र करती है और दिखलाती है विवाह अवश्य करना चाहिये क्योंकि यदि विवाह न करें तो प्रथम गृहस्थाश्रम ही धीरे २ लुप्त होजायगा और पाप की भी वृद्धि अधिक होती जायगी क्योंकि हजारों में एक आध ही सम्यक् प्रकार ब्रह्मचर्य्य की रक्षा कर सकता है । वंश के उच्छेद होने से उस की कीर्ति आदि भी नष्ट होजाती है इत्यादि कारणों से जरत्कारु की आख्यायिका अर्थवादसूचक है । यहां पर श्राद्ध की कोई भी चर्चा नहीं देखते हैं । इसी कारण मन्वादिक धर्म्मशास्त्र और ब्राह्मणादिक ग्रन्थों में तीन ऋण की चर्चा आती है । पुत्र उत्पन्न करने पर आदमी पितृ ऋण से मुक्त होजाता है । पुत् नाम नरक से त्राण करता है इस पुत्र शब्दार्थ से पिण्ड की कौनसी बात आगई । पुत्र का जन्म लेना ही इतना पवित्र माना गया है कि अपने जन्ममात्र से पितरों को पुन्नाम नरक से छुड़ाता है। ऐसा पौराणिक सिद्धान्त है न कि पिण्ड देनेसे पुन्नामनरकत्राता बनाता है । यास्क लिखते हैं । पुत्रः पुरुत्रायते निरपणाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा । जो बहुत रक्षा करे जो वृद्धावस्था में माता पिता आदि को पालन करे और जो 'पुम्' नाम नरक से रक्षा करे । 'पुम्' नाम नरक कौन है ? वृद्धावस्था होने पर जब आदमी अकर्मण्य

होजाता है उसी दशा का नाम पुन्नाम नरक है निःसन्देह इस दशा में जिस का सुपात्र पुत्र रहता है । उस की रक्षा अवश्य होती है । यथार्थ में पाणिनि-व्याकरण के अनुसार 'पूञ्पवने' धातु से पुत्र बनता है " पुनातीति पुत्रः पुवो ह्रस्वश्च उणादिसू० ४।१६४" जो गृह को पवित्र करे उसे पुत्र कहते हैं ॥

बारहवां और तेहरवां प्रश्न का समाधान ॥

यह मृतकश्राद्ध कब से चला ?

इस प्रश्न के प्रत्युत्तर के लिये दो बातें अवश्य जाननी चाहिये । १ बुद्ध-सम्प्रदायियों का तीर्थ होने पर भी गया स्थान में श्राद्ध का इतना माहात्म्य क्यों है ? २-और महाभारत की आख्यायिका इस विषय में क्या सूचित करती है। इन दोनों पर यदि अच्छे पकार विचार करें तो इस का उत्तर सहजतया मिल जायगा ।

गया—यह सब इतिहासों में प्रसिद्ध है कि गया हिन्दुओं का तीर्थ स्थान नहीं। यह बौद्धों का पवित्र स्थान है । कहते हैं कि बुद्धदेव, गयामें १२ वर्ष तपस्या करते रहे और अन्तमें उनकी मृत्युभी यहां ही हुई है ।जिस विहार देशका एक शहर गया है इसी को मगध कहते हैं । यह "विहार" नाम ही बतला रहा है कि सम्पूर्ण मगध देश बुद्धसम्प्रदायियों से आकीर्ण था । प्राचीनकाल में बौद्ध लोग ही अपने मन्दिर का नाम 'विहार' रखते थे । यहां उन के सहस्रों विहार थे इस कारण इस देश का नाम 'विहार' होगया । बुद्ध धर्म्म के परम प्रेमी देव-प्रिय अशोक राजा की राजधानी भी मगध में ही थी, अभी तक यहां बुद्धधर्म्म के अनेक चिन्ह पाए जाते हैं, बौद्धस्थान होने के कारण ही पुराणों में मगध की बड़ी निन्दा कही गई है । गया में जो विष्णुपद अर्थात् एक मन्दिर में प्रस्तर के ऊपर खोदा हुआ जो विष्णु के पैर के चिन्ह के नाम से पूजित होता है वह, यथार्थ में बुद्धदेव का ही पैर है । पुराणों में बुद्ध को भी विष्णु का अवतार मानते हैं. दशावतारों में एक बुद्ध भी हैं । इसी कारण इस को विष्णुपद कहते हैं अभी तक इस स्थान का नाम 'बोधगया' चला आता है यद्यपि आज कल 'बोधगया' और 'गयास्थान' में दो एक कोश का अन्तर पड़ गया है । परन्तु यह सब गया नाम से ही प्रसिद्ध है पिण्ड देनेवाले एक पिण्ड अभी तक बोधगया में देते

देते हैं। अभी तक लोगों में यह बात परम्परा से चली आती है कि जब तक बोध-गया में पिण्डदान न किया जाय तब तक श्राद्ध पूर्ण नहीं होता है ॥

अब यहां एक बड़ी शङ्का उपस्थित होती है कि हिन्दुओं के अति प्राचीन, काशी, प्रयाग, दण्डकारण्य, बदरिकाश्रम, सरस्वती, गङ्गा, नर्म्मदा आदि नदियों के तट एवं अयोध्या, मथुरा, रामेश्वर, द्वारिका आदि तीर्थस्थानों में श्राद्ध करने का उतना माहात्म्य न होके बौद्धस्थान-गया में इतना बढ़ कर माहात्म्य क्यों है? इस का भेद जानने से ही यह पता लग जाता है कि मृतकश्राद्ध देश में कब से चला है। इतिहासों में यह प्रसिद्ध है कि एक समय यहां की अधिकांश प्रजाएं बौद्ध धर्म्म को मानने लग गई थीं यह धर्म्म सम्पूर्ण एशिया में एक तरह से फैल गया था विशेष कर चीन, जापान और लङ्का में तो उसका राज्य ही हो गया था। मैं यहां अब चीनी-लोगों की बात सुनाना चाहता हूं। इनही चीनी प्रजाओं में बहुत दिनों से मृतक-श्राद्ध चला आता था। इनकी अज्ञानता की बातें बहुत हैं। जब इनके यहां कोई राजा मरता था तो उस के साथ दास, दासियां, घोड़े आदि भी मार के जलाए जाते थे। एक बड़े मकान में राजोचित सब सामग्रियां अर्थात् विविध वस्त्र, अनेक प्रकार के भोज्यपदार्थ, अस्त्र शस्त्र आदि रखके राजाके नाम पर भस्मकर दी जाती थीं अब तक यह रीति कुछ २ बनी हुई है। एक यह भी लीला करते हैं कि प्रत्येक वर्ष ये लोग कागज़ों के घोड़े, हाथी, बैल, दास दासी वगैरः बनाते हैं और मृत-पितरों के नाम पर इस आशा से जलाते हैं कि ये सब स्वर्ग में जाके चेतन बनके मृतपुरुषों की सेवा करेंगे। पहले जीतों को ही मार कर स्वर्ग में अपने अपने पितरों के निकट भेजते थे अब कागजों की मूर्तियां बना कर भेजते हैं। इन में जितने लोग मरते हैं प्रायः सबों के नाम क्रम से लिखते चले जाते हैं। एक पाटी पर सब के नाम लिख के अपने २ घर पूजास्थान में लटकाए हुए रखते हैं और प्रतिदिन उन सबों की पूजा क्रम से करते हैं। उन के यहां प्रधानता से, आप यह समझें, कि मृतक-पूजा ही धर्म्म है। श्मशान में बड़े २ और सुन्दर २ मृतकभवन बने हुए हैं। प्रत्येक वर्ष बड़ी धूमधाम से श्मशान में उत्सव होता है। उन के यहां, दरिद्रा, रोग, व्याधि, उपद्रव आदि का कारण भी मृतपुरुषों का असन्तोष वा क्रोध माना जाता है अर्थात् इन के यहां यदि कोई मुख्यधर्म्म है तो मृतक-श्राद्ध ही है।

अब आगे चलिये। जब से बौद्धधर्म्म चीनदेश में फैल गया तब से चीनी-लोग गया में अधिक आने लग गये थे। मुसलमानी राज्य के समय में लूट, मार, डकैती होने के कारण इन का आना जाना बहुत कुछ बन्द होगया था अब इस राज्य में पुनः आने जाने लगे हैं। ये लोग गया में आके बड़ी धूम धाम से श्राद्ध किया करते थे। रास्ते में पितृपूजा छूट जाती थी और पितरों के भी पितर बुद्ध को ही मानते थे। जिनकी तपस्या भूमि गया है इन कारणों से गया में आके जी खोल के पितृ-श्राद्ध करते थे और यहां के लोगों को भी पूर्ण दान दक्षिणा दिया करते थे। इन्हीं चीनियों की नकल यहां के लोग भी करने लग पड़े। चीनी लोग बौद्ध होने के कारण भारतवासी बौद्धों के अतिथिस्वरूप थे। दोनों का धर्म्म मिलता था अतः प्रथम बौद्ध सम्प्रदायियों ने चीनी लोगों से इस श्राद्ध का नकल किया। उस समय के पण्डों ने भी देखा कि इसमें तो पूर्ण माल मिलता है इस का खूब ही प्रचार करो। इन में से झुण्ड के झुण्ड देश में निकल के इसका उपदेश देने लगे इस प्रकार सम्पूर्ण भारतवर्ष मृतकपूजक बन गया। आप को यह भी ध्यान रखना चाहिये कि प्रथम इसका देश में बड़ा विरोध हुआ। लोग अपने गृह में मृतकश्राद्ध नहीं करने देते थे। करानेवाले निकृष्ट माने जाते थे अभीतक मृतक-श्राद्ध करानेवाला महाब्राह्मण, मिथिला देश में जिस को महापात्र कहते हैं, अति निकृष्ट माना जाता है। ब्राह्मण कहलाने पर भी इससे लोग स्पर्श नहीं करते हैं अभीतक मृतक सम्बन्धी दान भी वही लेता है अर्थात् जबतक प्रेत के नाम पर दान होता रहता है तबतक सब दान उसी को मिलता है। इस प्रकार विरोध होने के कारण मृतकभक्त लोग प्रथम गया में ही आके श्राद्ध करते थे। धीरे धीरे सर्वत्र गृह गृह में फैल गया। यहां के लोग उस समय जैसे आज हैं बुद्धि के बड़े दुर्बल हो गये थे झट बिना विचारे किसी काम को करने लगे थे। यहां के लोग ऐसे विचार शून्य हो गये हैं कि करीब १४ वर्ष की बात है कि एक उड़ती बात सुन के सब किसी ने क्या गरीब क्या धनाढ्य क्या राजा क्या प्रजा ने अढ़ाई दिन भिक्षा मांग पूजा की। लोग समझने लगे कि यदि इस विधि से पूजा न करेंगे तो सब कोई मर जायँगे। पुनः किसी किंवदन्ती को सुन कई दिनों तक अपने २ गृह छोड़ रात्रि में अन्यत्र सोते रहे। किसी स्वार्थी धूर्त

ने कहा कि गंगा नदी का एक दौहित्र उत्पन्न हुआ है । हजारों लाखों इसकी पूजा के लिये इकट्ठे हो गये । किसी ने यह नहीं पूछा कि वह दौहित्र कहां है । इसी प्रकार की अज्ञानता की घटना हरेक साल होती रहती है । यह सब विहार देश की लीला है । परन्तु यह अज्ञानता की बीमारी सम्पूर्ण भारत में फैली हुई है । एवमस्तु । आगे च-लिये । जिस कारण प्रथम से ही यहां जीवित-पितृ-यज्ञ वा श्राद्ध विद्यमान था अतः यह भी झट से चल पड़ा और वेदों के मन्त्र भी निकाल दिखला दिये गये कि वेदों में भी पितृयज्ञ की विधि है । चीन देश-वासियों की अपेक्षा यहां के लोग कुछ बुद्धिमान् थे और वेदों के विश्वासी थे अतः पितृ-श्राद्ध की अनेक पद्धतियां भी बनालीं और चीनी के समान पदार्थों को व्यर्थ भस्म न करके दान कर देने लगे । इसकारण यह गयाश्राद्ध सूचित करता है कि विदेशियों से मृतकश्राद्ध की शिक्षा ली है ।

मृतकश्राद्ध और महाभारत की आख्यायिका ॥

युधिष्ठिर उवाच । केन संकल्पितं श्राद्धं कस्मिन् काले किमात्मकम् । भृग्वंगिरसके काले मुनिना कतरेण वा । भीष्म उवाच । यथा श्राद्धं संप्रवृत्तं यस्मिन् काले यदात्मकम् । येन संकल्पितं चैव तन्मे शृणु जनाधिप । स्वायंभुवोऽत्रिः कौरव्य परमर्षिः प्रतापवान् । तस्य वंशे महाराज दत्तात्रेय इति स्मृतः । दत्तात्रेयस्य पुत्रोऽभून् निमिर्नाम तपोधनः । निमेश्चाप्यभवत्पुत्रः श्रीमान्नाम श्रियावृतः । कालधर्मपरीतात्मा निधनं समुपागतः । निमिस्तु कृत्वा शौचानि विधिदृष्टेन कर्म्मणा । सन्तापमगमत्तीव्रं पुत्रशोकपरायणः । तमेव गणयञ्छोकं त्रिरात्रे प्रत्यबुध्यत । तस्यासीत् प्रतिबुद्धस्य शोकेन व्यथितात्मनः । मनः संहृत्य विषये बुद्धिर्विस्तारगामिनी । ततः सञ्चिन्तयामास श्राद्धकल्पं समाहितः । यानि तस्यैव भोज्यानि मूलानि च फलानि च । उक्तानि यानि चान्नानि यानि चेष्टानि तस्य ह । तानि सर्वाणि मनसा विनिश्चित्य तपोधनः । अमावास्यां महाप्राज्ञो विप्रानानीय पूजितान् । दक्षिणावर्त्तिकाः सर्वाः स्वयमेवमथाकरोत् । सम-

विप्रांस्ततोऽभ्येत्य युगपत् समुपानयत् । ऋते च लवणं भोज्यं श्यामाकान्नं ददौ प्रभुः । दक्षिणाग्रास्ततो दर्भा विष्टरेषु निवेशिताः । पादयोश्च विप्राणां ये त्वन्नमुपभुञ्जते । कृत्वा तु दक्षिणाग्रान् वै कोणे स प्रयतः शुचिः । प्रददौ श्रीमतः पिण्डान् नामगोत्रमुदाहरन् । तत्कृत्वा तु मुनिश्रेष्ठो धर्मसंकटमात्मनः । पश्चात्तापेन महता तप्यमानोऽभ्यचिन्तयत् ॥ महाभारत अनुशासन अध्याय ९१ ॥

— युधिष्ठिरजी पूछते हैं कि हे पितामह ! किस काल में किस मुनि ने इस श्राद्ध को चलाया । भीष्मजी कहते हैं कि हे राजन् ! अत्रि के गोत्र में एक निमि नाम के मुनि बड़े तपस्वी हुए । इनका एक पुत्र हुआ जिस का नाम उन्होंने श्रीमान् रक्खा वह कुछ दिन के अनन्तर मर गया जिस से निमि बड़ेही शोकसंतप्त हुए । दारुण पुत्रशोक से रात दिन अपने पुत्र श्रीमान् की चिन्ता करते हुए निमि की बुद्धि बहुत चञ्चल और विक्षिप्त होगई । इस व्यथित और विक्षिप्त अवस्था में पड़के वह निमि अपने पुत्रके खान पान बैठना उठना चलना फिरना उस की सारी क्रिया को ही रात दिन ध्यान करने लगे । एक अमावास्या तिथि को कुछ ब्राह्मणों को बुला दक्षिणाग्र कुशों पर बिठा स्वयं शुचि हो लवणवर्जित भोज्यान्न दिया और दक्षिणाग्र कुशों पर श्रीमान् के नाम गोत्र उच्चारण कर कुछ पिण्ड रख दिये । जब उन्होंने अपने मृतपुत्र के नाम पर पिण्ड रक्खे तब उन्हें बड़ा शोक हुआ क्योंकि उन्होंने स्वयं स्वस्थ होकर देखा कि मैंने यह कर्म्म धर्म्म—विरुद्ध किया । आगे कहते हैं:—

"अकृतं मुनिभिः पूर्वं किं मयेदमनुष्ठितम् ।
कथं नु शापेन न मां दहेयुर्ब्राह्मणा इति" ॥

इस से पूर्व इस कर्म्म को किसी मुनि ने नहीं किया । हाय ! यह मैंने क्या अनुचित [illegible]किया । ऐसा न हो कि मुझे ब्राह्मण लोग भस्म करदें इस प्रकार चिन्ता करतेहुए [illegible]पने वंशकर्त्ता अत्रिका ध्यान किया । वे आके सब समझगए कि आप चिन्ता [illegible] पितामह ब्रह्माने ही इस कल्प को विचारा था । अब तुमने इसको आरम्भ कर दिया [illegible]श्राद्ध था । भीष्मजी कहते हैं कि इसी निमि से यह श्राद्ध चला ।

वराह पुराण और श्राद्ध ।

यही आख्यायिका वराहपुराण के श्राद्धोत्पत्ति-प्रकरण में भी इसी प्रकार आई है। विशेषता इतनी है कि इसके श्राद्ध करने के समय में नारदजी आ पहुंचे हैं। नारद और निमि का सम्बाद सुनने के योग्य है। यथा—

एतस्मिन्नन्तरे देवि नारदो द्विजसत्तमः। जगाम तापसारण्यं ऋष्याश्रमविभूषितम् । तं दृष्ट्वा पूजयामास स्वागतेनाथ माधवि। भीतोगद्गदया वाचा निःश्वसंश्च मुहुर्मुहुः। सव्रीडो भाषते विप्रः कारुण्येन समन्वितः। कृतस्नेहश्च पुत्रार्थे मया संकल्प्य यत् कृतम्। तर्पयित्वा द्विजान्सप्त अन्नाद्येन फलेन च। पश्चात् विसर्जितं पिण्डं दर्भानास्तीर्य्य भूतले। उदकानयनञ्चैव त्वपसव्येन पायितम्।

शोकस्नेहप्रभावेण एतत्कर्म मया कृतम्।
न च श्रुतं मया पूर्वं न देवैर्ऋषिभिः कृतम्।
भयं तीव्रं प्रविशामि मुनिशापात् सुदारुणात्।

इसी के बीच में ऋषियों से विभूषित तपोरण्य में नारदजी आये। उन्हें देख भयभीत हो बारम्बार सांस लेते हुए सलज्ज और करुणायुक्त हो गद्गद वाणी से वह निमि बोले। हे नारद! मैंने यह सब पुत्र के स्नेहवश हो किया है। ब्राह्मणों को अन्न फल खिलाएं। दर्भ के ऊपर पिण्ड दिया, अपसव्य हो जल दिया। हे नारद! शोक और स्नेह के प्रभाव से यह सब कर्म्म मैंने किया है। मैंने इसको कभी नहीं सुना और न देवों ने न ऋषियों ने इसको किया है। इस कारण मुझे बड़ा भय होता है ऐसा न हो कि मुझ अनुचित कर्म्मकारी को आप शाप से भस्म कर देवें। इसके बाद नारद समझा के चले गये। पुनः अत्रिजी आये और पूर्ववत् ही कहा।

यह आख्यान वा सम्वाद सूचित करता है कि मृतकश्राद्ध आधुनिक तथा वेदविहित नहीं है, और किस प्रकार से चला यह भी दिखलाता है। यह एक स्वाभाविक बात है कि प्रियपुत्र के मरने पर बड़ा शोक होता है। लोक विक्षिप्त होके बारम्बार लड़के के

बिछौने को दौड़ २ के देखते हैं कि कहीं से वह आतो नहीं गया इधर उधर ताकते हैं कि कहीं से लड़का आजाय। उस के नाम पर अज्ञानीजन वैसे ही भोजन आदि पदार्थ रखते हैं। रात में समझते हैं कि मेरे ही निकट वह सोता हुआ है। इत्यादि दशा मनुष्यों की स्वाभाविक है। इसी दशा को प्राप्त हो निमि ने भी सब कर्म्म किया यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं। यहां विचारने की बात यह है कि यदि यह मृतक-श्राद्ध वेदविहित होता तो निमि को भय नहीं होता और " अकृतं मुनिभिः पूर्वं किं मयेदमनुष्ठितम्। न च श्रुतं मया पूर्वं न देवैर्ऋषिभिः कृतम् " इत्यादि वाक्य नहीं कहते मालूम होता है कि निमि के समय में यह श्राद्ध नहीं होता था। और निमि के विषय में भी कहा गया है कि वह भी ऋषि अर्थात् वेदवित् था। यदि वेदविहित होता तो स्वयं कहता कि मैं वेदविहित ही कर्म्म कर रहा हूं इस में चिन्ता की कोई बात नहीं। यदि कहो कि अत्रि ने आके कहा कि—" मा तेऽभूद् भीः पूर्वदृष्टो धर्म्मोऽयं ब्रह्मणा स्वयम् " महाभारत। इस कर्म्म को स्वयं ब्रह्मा ने ही देखा है तू मत डर इससे सिद्ध है कि अनादिकाल से चला आता है। समाधान। यह तो पुराणों की शैली है कि एक न एक आख्यायिका रच प्रत्येक कर्म्म को अनादित्व सिद्ध कर देते हैं। इसी शैली के अनुसरण करते हुए झट नारद को भी यहां ले आए। मैं पूछता हूँ कि यदि यह अनादिकाल से चला आता रहता तो निमि को 'धर्म्मसंकट' का भय क्यों होता। और " किसी ने नहीं किया है " ऐसा क्यों कहते इससे सिद्ध है कि निमि के समय से यह चला है।

एक बात यह भी ध्यान देने की है कि इस निमि ने द्वादशाह श्राद्ध नहीं किया किन्तु अमावास्या तिथि को ब्राह्मणों को बुलाके प्रथम भोजन दिया। पश्चात् पुत्रस्नेह से पुत्र के नाम पर भी पिण्ड रख दिया। आपको स्मरण है कि जीवित पितृयज्ञ के लिये पहले से ही अमावास्या तिथि प्रसिद्ध थी दर्शपौर्णमासयज्ञ सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। इस से भी सिद्ध है कि प्रथम इस ने जीवित श्राद्ध किया पश्चात् विक्षिप्त चित्त से पुत्र को भी पिण्ड देदिया। युधिष्ठिर के सम्वाद से यह नहीं समझना कि उस समय में भी मृतकश्राद्ध था। राजाओं के नाम पर एक प्रसंग चलाने के लिये ऐसी २ आख्यायिका

गड़ली जाती है । अतः इस की बात के ऊपर ध्यान रख अन्यान्य को कल्पित मानना चाहिये । इसको विदेशियों से लोगों ने नकल किया है इस में अन्यान्य भी प्रमाण हैं ।

श्राद्ध और बैल को दागना ।

बैल को खूब तप्त लोहे से दागने की भी एक विधि श्राद्ध में आती है । "कर्म्म-कारमाहूय वृषभं दक्षिणपार्श्वे त्रिशूलेन वामपार्श्वे चक्रेण व्यत्ययेन चाङ्कयेत् । ततो वृ-षभस्य दक्षिणकर्णे । ओं पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथोपिता महतां गर्गाणाम् इत्यादि " कर्म्मकार को बुला के दक्षिण पार्श्व में त्रिशूल से और वामपार्श्व में चक्र से वृषभ को दागे । पश्चात् वृषभ के दक्षिणकान में " पिता वत्सानाम् " इत्यादि मन्त्र पढ़े । यद्यपि आजकल बैल का दागना सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रसिद्ध है तथापि बंगाल हाते में इस की अधिकता है । एक साधारण वा लघुवयस्क के मरने पर भी बैल दागा जाता है इस कर्म्म का नाम वृषोत्सर्ग है । लोग समझते हैं कि यदि बैल न दागा जायगा तो प्रेत की सद्गति नहीं होगी । दागने के समय में बैल जितना जोर से चिल्लायगा उतना ही शीघ्र वह मृतपुरुष स्वर्ग को जायगा इत्यादि । यह विधि क्यों चली इसका भी कारण वे ही चीनी हैं चीनीलोग मांस खाने में सब से बढे हुए हैं । कुत्ते के मांस तक को बड़े प्रेम से बड़े २ आदमी खाते हैं । ये लोग गयाजी में वृषभादिक के मांस से श्राद्ध करते थे इसी की देखा देखी यहां के लोग भी वैसा ही करने लगे । मधुपर्क आदि क्रिया में भी यहां के लोग उस समय से गोहत्या करने लग पड़े थे । इसी हेतु जहां तहां गोहत्या की चर्चा पाई जाती है । क्योंकि बौद्धों की प्रबलता के कारण सब प्राचीन ग्रन्थों में वेदों को छोड़ बहुतसी बातें मिलाई गई है । यदि कहो कि अहिंसा परमोधर्म्मः यह बौद्धों का परम मा-ननीय सिद्धान्त था । यह मन्तव्य था इस में सन्देह नहीं परन्तु इस को सबों ने स्वी-कार नहीं किया, चीन, जापान, तिब्बत और लङ्कावासी बौद्ध इस के साक्षी हैं । अतः प्रथम यहां के लोग भी चीनियों की देखा देखी से श्राद्धादिक कर्म्मों में बैल मारते थे । आगे मंत्रार्थ करते हुए दिखलाऊंगा कि यहां के सायण आदिक भाष्यकारों ने कैसा अत्याचार किया है परन्तु पुनः वैदिकधर्म्म स्थापित और बौद्धधर्म्म पतित होने पर बैल को मारना तो बन्द कर दिया गया परन्तु उस के स्थान में दागना रह गया है

अभी तक विद्यमान है बैल के दागने की चर्चा मनुस्मृति में भी नहीं है। यह महा घोर कर्म आर्य्य सन्तान से कदापि नहीं हो सकता है। कैसी अज्ञानता की बात देश में चली हुई है। यह क्रूरकर्म सूचित करता है कि यह मृतकश्राद्ध विदेशियों से लिया गया है। अब जो इस समय मन्त्र पढते हैं उस का व्याख्यान कर देते हैं आप लोग विचारें कि दागने या मारने का कोई चिन्ह इस में पाया जाता है।

पिता व[illegible]ां पतिरघ्न्यानामथोपिता महतां गर्गराणाम्।
वत्सो जरायु प्रतिधुक् पीयूष आमिक्षा घृततद्वस्यरेतः। अथर्व। ६।४

यह वृषभ का वर्णन है (वत्सानाम्+पिता) वृषभ वत्सों का पिता अर्थात् जनक है। (अघ्न्यानाम्+पतिः) गौओं का पति है (अथो) और (महताम्+गर्गराणाम्+पिता) बड़े २ वृषभों का भी पिता है इसी के कारण (वत्सः+जरायु+प्रतिधुक्) बच्चा गरम दूध पीता है (अस्य+उ+तत्+रेतः) इसी का बीज, मानो (पीयूषः) दुग्ध रूप अमृत (आमिक्षा+घृतम्) आमिक्षा और घृत है।

यही इस का शब्दार्थ है इस में न तो दागने और न मारने का कोई चिन्ह देखते हैं। इस सूक्त में २४ ऋचाएं हैं वे सब हीं गौ और वृषभ की प्रशंसा करती हैं। परन्तु इस सूक्त के विनियोग में लोगों ने क्या २ लिखा है दो एक बात सुनाता हूं। कतब्राह्मणो वृषभं हत्वा भिन्न भिन्न देवताभ्यो जुहोति तत्र वृषभस्य प्रशंसा तदङ्गानां च कतमानि कतमदेवतेभ्यः प्रियाणि भवन्ति तद्विवेचनम् ॥...... ...साम्प्रदायिकास्तु एवं विनियुञ्जन्ति सूक्तम्। वृषोत्सर्गे "साहस्र" इत्यर्थसूक्तेन वृषभं सम्पात्य अभिमन्त्र्य विसृजेत् १ तथा अनेन सूक्तेन वशाविधानेन (कौ० ५—८) "ऋषभेण इन्द्रं यजत" इत्यादि। इसी कारण मैं कहता हूं कि यहां के लोग चीनी की देखा देखी से गोहत्या में प्रवृत्त हो गए थे। उपर के बचन से भी दो मत देखते हैं एक तो कहते हैं कि वृष को मारना चाहिये और दूसर कहते हैं कि बैल को नीचे गिरा मन्त्र पढ छोड़ देना चाहिये। जैसा कि आज कल श्राद्धस्थल में करते हैं। साथ ही पटक कर दाग भी देते हैं। मैं प्रथम पक्ष को तो अत्यन्त बुरा समझता हूं द्वितीय पक्ष को अनुचित और

वेदविरुद्ध होने से अकर्तव्य समझता हूं। मांस भक्ष्याभक्ष्य निर्णय में इस सूक्त का अर्थ देखना।

बैल का विवाह ॥

श्राद्ध विवेकादिक ग्रन्थों में लिखा है और मिथिला बंगादि देशों में अभी तक प्रचलित भी है कि श्राद्ध में गौ और बैल का विवाह भी करवावे। "गोविवाहोऽथवा कार्यो माध्यां वै फाल्गुने पि वा। चतस्रो वत्सिका भद्रा द्वौ वा सम्भवतोपि वा। वत्सः सर्वाङ्गसम्पूर्णः कन्या सा वत्सिका भवेत्। विवाहमेकवत्सेन नीलेन भवत्... वृषभेणाश्वमेधस्य यागस्य फलदायकम्।" यह विधि भी सूचित करती है कि अपण्डितजनों का मृतक श्राद्ध चलाया हुआ है। पूछना चाहिये कि किस मन्त्रों से यह पशुविवाह होगा। शोक की बात है कि इस पवित्र ऋषिभूमि में ऐसी २ अज्ञानता भरी हुई है॥

सोलहवां प्रश्न का समाधान ॥

दशगात्र पिण्ड

शिरस्त्वाद्येन पिण्डेन प्रेतस्य क्रियते सदा। द्वितीयेन तु कर्णाक्षि नासिकाश्च समासतः गलांसभुजवक्षांसि तृतीयेन यथाक्रमम्। चतुर्थेन तु पिण्डेन नाभिलिङ्गगुदानि च॥ जानुजंघे तथा पादौ पञ्चमेन तु सर्वदा। सर्वमर्म्माणि षष्ठेन सप्तमेन तु नाडयः। दन्तलोमान्यष्टमेन वीर्य्यं तु नवमेन च। दशमेन तु पूर्णत्वं तृप्तताक्षुद्विपर्य्ययः॥ इत्यादि॥

दाह क्रिया के अनन्तर दश दिन तक दश पिण्ड दिए जाते हैं। उस से समझते हैं कि प्रेत का शरीर बनता है। प्रथम पिण्ड से शिर, द्वितीय से कर्ण, नेत्र और नासिका, तृतीय से गला स्कन्ध, भुज और वक्षस्थल, चतुर्थ से नाभि लिङ्ग और गुदा, पञ्चम से जानु जंघा पैर, षष्ठ से सब मर्मस्थान, सप्तम से सब नाड़िएं, अष्टम से दन्तलोम, नवम से वीर्य्य और दशम पिण्ड से क्षुधा पिपासा आदि तैयार होते हैं। यह भी बालकक्रीड़ा समान है। इस की भी चर्चा मन्वादि धर्मशास्त्र में भी नहीं है। प्रथम तो इस में प्रश्न होता है कि प्रेत का शरीर किस वस्तु का और कहां पर बनता है। यदि लिङ्ग शरीर, बनता है तो लिङ्ग शरीर आकल्पान्तःस्थायी है न वह बनता न घटता न जलता न सरता सर्वदा समान ही रहता यह सर्वसिद्धान्त है। अब यह

गया मनुष्यादि शरीर, सो किस स्थान पर बनता है । मान भी लिया जाय कि कहीं बनता है तो बालक शरीरवत् एकादशाह द्वादशाह आदि तिथियों में कम से कम पुत्र को तो दृष्टिगोचर होना चाहिये । ईश्वर के निमय से तो मनुष्य शरीर प्रायः दश मास में पुष्ट होता और आप के नियम से दश ही दिनों में पुष्ट हो जाता है यह आश्चर्य है । इसी कारण अज्ञानी जन पीपल वा बट आदि स्थानों में एक पात्र लटका देते हैं कि इसी में शरीर बनेगा । भाइयो ! सोचो तो स्थूल शरीर यदि बनेगा तो अवश्य दीखना चाहिये । ये सब विधि सूचित करती हैं कि परम विद्वान्, वेद तत्त्वविद् ऋषियों का चलाया हुआ यह मृतक श्राद्धतत्त्व कर्म नहीं ।

मृतकाऽऽशौच और केशच्छेदन ॥

यह भी एक अज्ञानता की बात देश में चल पड़ी । वेदों में तो कहीं भी इसकी आज्ञा है ही नहीं किन्तु सर्वधर्म्मशास्त्र शिरोमणि मनु धर्मशास्त्र में भी विधि नहीं । केश के ऊपर पवित्रता अथवा अपवित्रता निर्भर नहीं । यदि ऐसा होतो स्त्रियां बिचारीं सर्वदा अपवित्र ही मानी जायँ । ब्रह्मचारी भी सदा अशुद्ध माने जायँ क्योंकि इन्हें भी केशी रहने की आज्ञा कहीं २ पाई जाती है अर्थात् चाहें तो केश करावें चाहें रखावें "तुरकृत्यं वर्जय" क्षौर मत करा यह आदेश ब्रह्मचारियों को दिया जाता है । पंजाबी 'सिक्ख' हिन्दू होने पर भी केश वपन नहीं करवाते बल्कि वैसा करना पाप मानते हैं । दशरथ की मृत्यु पर न तो अयोध्यावासियों ने और न श्री रामचन्द्र वा भरत आदिकों ने केश मुड़वाया । एवं महाभारत में भी युद्धसमाप्ति के अनन्तर पांचों पाण्डवों को केशवपन करवाते हुए नहीं देखते हैं । मैं यहां ग्रन्थ बढ़ाना नहीं चाहता परन्तु विचारशील पुरुषों से कथन है कि ऐसी २ अज्ञानता की बातें देश से उठा देनी चाहिये ॥

पितर और मांस भोजन ॥

मैंने पूर्व में अनेक मन्त्र उद्धृत किये हैं किसी मन्त्र में पितरों के साथ मांस की चर्चा नहीं आई है । प्रत्युत वेद में देवयज्ञ और पितृयज्ञ दोनों के लिये मांस का निषेध है । यथाः—

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥ १०।१६

(क्रव्यादम्, अग्निम्, दूरम्, प्रहिणोमि) ईश्वर कहता है कि ऐ मनुष्यो ! क्रव्याद् अर्थात् मांसभक्षक अग्नि को तुम्हारे गृह से मैं दूर करता हूं (रिप्रवाहः, यमराज्ञः, गच्छतु) वह पापवाहक अग्नि (यमराज्ञः) मेरे अन्य स्थान में जाय (इह) तुम्हारे गृह में (अयम्, इतरः, जातवेदाः, एव) यह दूसरा अग्नि जो क्रव्याद् नहीं है वही (प्रजानन्) सबों से विज्ञायमान हो के (देवेभ्यः) वायु आदि देवों को (हव्यम्, वहतु) हव्य पहुंचावे । (यमराज्ञः) यम=ईश्वर वहीं राजा है जिन प्रदेशों का वह "यमराजा" यह बात प्रसिद्ध है कि अग्नि सर्वभक्षी है । मुरदा जलाते हुए मानो मांस भी खाता है । परन्तु ईश्वर यहां कहते हैं तेरे गृह में मांस न पके जिससे कि गृह्य अग्नि क्रव्याद् न बन जाय । अक्रव्याद् अग्नि ही देवों को हव्य पहुंचावे । इससे देवयज्ञ में मांस निषेध सिद्ध हुआ अब आगे पितृयज्ञ के लिये निषेध करते हैं। यथाः—

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्।
तं हरामि पितृयज्ञाय देवं सघर्म्ममिन्वात् परमे सधस्थे॥ १०।१६

(वः, गृहम्) तुम गृहस्थियों के गृह में (यः, क्रव्यात्, अग्निः, प्रविवेश) जो मांसभक्षक अग्नि प्रविष्ट हुआ है (तम्, देवम्, पितृयज्ञाय) उस मांसभक्षी अग्निदेव को पितृयज्ञ के निमित्त तुम्हारे गृह से (हरामि) दूर करता हूं (इतरम्, जातवेदसम्, पश्यन्) दूसरे अग्नि को तुम्हारे गृह में देखता हुआ मैं प्रसन्न होता हूं (सः) वह शुद्ध अग्नि (परमे, सधस्थे) उत्कृष्ट स्थान में स्थापित होके (घर्म्मम्, इन्वात्) यज्ञ को प्राप्त करे ।

यहां पर विस्पष्टरूप से वर्णन है कि पितृयज्ञ के लिये क्रव्याद् अग्नि की आवश्यकता नहीं । अब आप समझ सकते हैं कि पितृयज्ञ में मांस का निषेध किया या नहीं। यदि पितृयज्ञ में पितरों के उद्देश से मांस पकेगा तो वह अग्नि अवश्य 'क्रव्याद्' कहलावेगा । परन्तु ईश्वर कहता है कि पितृयज्ञ के लिये उस अग्नि को दूर करता हूं।

तेरे गृह में दूसरे अग्नि को देखना चाहता हूं। इत्यादि। अब बहुत लिखने की आवश्यकता नहीं। इस कारण पितृयज्ञ में जहां २ मांस का विधान है वह वेदविरुद्ध होने से सर्वथा त्याज्य है। अतः

"यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा। मधुपर्के च यज्ञे च"। "एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्" "इत्यादि पञ्चमाध्याय के श्लोक और "द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन" "षण्मासां श्छागमांसेन" इत्यादि तृतीयाध्याय के श्लोक एवं "मासद्वयं मत्स्यैः" ८। "मासत्रयं हारिणेन मृगमांसेन"। ९। "चतुरः शाकुनेन। १०। पञ्च रौरवेण। ११। षट् छागेन। १२। सप्त कौर्म्मेण। १३। अष्टौ वाराहेण। १४। नव मेषमांसेन। १५। दश माहिषेण। १६। एकादश पार्षतेन"। १७। इत्यादि गोभिलीय–श्राद्धकल्पसूत्र वेदविरुद्ध हैं अतः सर्वथा त्याज्य हैं। पुनः मनुजी कहते हैं कि "मांसविक्रयिणस्तथा" ३-१५२ मांस वेचनेवालों को श्राद्ध में नहीं बुलाना चाहिये "बड़ा आश्चर्य्य होता है कि जब मांसविक्रेता से भी मनुजी घृणा करते हैं तब कब संभव है कि मांसभक्षण का विधान स्वयं करें पुनः" अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः। न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः। ३–१९२। पितृगण क्रोधरहित, बाह्याभ्यन्तर–शौचयुक्त, सदा ब्रह्मचारी, शस्त्ररहित, महाभाग और परमदेव हैं। जब मनुजी पितरों को सदा ब्रह्मचारी बताते हैं तो क्या ब्रह्मचारियों के लिये मांस का कहीं भी विधान है। इत्यादि मनु के ही वचनों से सिद्ध होता है कि मनु को भी पितृयज्ञ में मांस अभीष्ट नहीं है अतएव ये सब श्लोक सर्वत्र पीछे से मिलाये गये हैं।

पुनरपि आप विचारें कि यह पितृयज्ञ वानप्रस्थाश्रमी परमवृद्ध पुरुषों के लिये है। जिन्होंने अब संसार के सकल व्यसनों को त्याग दिया है। तपस्या कर रहे हैं हिंसा से सर्वथा निवृत्त होगये हैं। इसी हेतु मनुजी इन को "न्यस्तशस्त्र" कहते हैं। ऐसे पुरुषों के भोजनार्थ मांस की विधि कैसे हो सकती है। पुनरपि मनु स्वयं विधान करते हैं कि "संत्यज्य ग्राम्यमाहारम्" वनी पुरुष (वानप्रस्थाश्रमी) ग्राम्य आहार को भी त्याग दे "मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः" मुन्यन्न अर्थात् नीवारादिकों से महापञ्चयज्ञ करे

"वर्जयेत् मधु मांसं च" मधु मांस को त्याग दे। संन्यासियों के लिये तो इससे भी बढ़के नियम हैं। वह मनुष्य संन्यासाश्रम में आके परम शुद्ध हो मांसादि त्याग तपस्या करता हुआ प्राण त्यागता है। अब प्राण त्यागने के बाद उसी संन्यासी आत्मा के लिये आप मांस देते हैं। यह कैसी उलटी बात है। कुछ दोष देखके ही बनी और संन्यासी के लिये मांस का निषेध किया होगा। अब वह आत्मा आगे चल के गिरेगा या बढ़ेगा। निःसन्देह ऐसे तपस्वी आत्मा की दिन २ वृद्धि होगी। जब आप बनी के लिये ही मांस निषेध करते हैं तो ऐसे के लिये कब विधि हो सकती है। अतः मन्वभीष्ट भी मांस विधि नहीं। मांसभक्षण और यज्ञ में पशु हिंसा के बारे में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मैं लिखूंगा क्योंकि इस को लोगों ने बहुत बढ़ा रक्खा है। अतः यहां इस को विस्तार नहीं करते। यहां इस पर ध्यान रक्खें कि पितृयज्ञ में क्रव्याद् अग्नि को ईश्वर पसन्द नहीं करता है। इति।

१४ चौदहवां प्रश्न।

तर्पण

आजकल पितरों को जल देना ही पितृतर्पण क्यों कहाता है ?

इस का कारण केवल सोमरस है। हम पूर्व में कह आये हैं कि जीवत् पितरों को **सोमरस** खूब पिलाया जाता था और उन वृद्ध पितरों के षड्रस भोजन और पदार्थों से अच्छे २ रस निकाल कर दिया करते थे। जब सोमलता और पितृयज्ञ भूल गए तब केवल पानी से ही सत्कार करने लगे क्योंकि पानी का भी नाम 'रस' है "मेघपुष्पं घनरसः" अमर।

मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत। चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयत आत्मानं मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून् मे तर्पयत गणान् मे तर्पयत गणा मे मा वितृषन्। यजु०

"मेरे मन को तृप्त करो एवं मेरी वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, आत्मा, प्रजा, पशु और गणों को तृप्त करो। मेरे गण वितृष्ण न होवें" यहां देखते हैं कि तर्पण शब्द

का जल देना अर्थ नहीं है यदि मान भी लिया जाय कि जल का ही यह वर्णन है उसी से कहा जाता है कि हे जल! आप मेरे मन आदि को तृप्त करें। फिर इस से मृतक-तर्पण सिद्ध नहीं हुआ। यहां जीता जागता यजमान कहता है कि हे जल! मेरे मन आदि को तृप्त करें। फिर तर्पण-शब्दार्थ मृतक में कैसे घटाया जाता है। एवं "निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा" य० ६। ३०। यहां पर भी जीता हुआ यजमान ही कहता है। यदि कहो कि "ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन्" यहां मृतपितरों को ही तृप्त करने के लिये जल देवता से प्रार्थना है? तो यह कथन समुचित नहीं। जैसे "निग्राभ्यास्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा" ६। ३०। यह मन्त्र जीवित परक है वैसे ही "ऊर्जं वहन्तीं" यह भी जीवितपरक है इस में मृतक का कौनसा चिन्ह पाते हैं एवं "शन्नो देवीरभिष्टये" "आपोहिष्ठा मयोभुवः" इत्यादि अनेक मन्त्र जल-वर्णन परक हैं। क्या ये सब मृतक में घटते हैं। "ऊर्जं वहन्तीः" का अर्थ पीछे लिख आया हूं। अन्न, पानी, वस्त्र आदि पदार्थों से वृद्ध-पितरों को सर्वदा तृप्त रखना चाहिये यह यहां तर्पण-शब्दार्थ है। मृतपितरों के नाम पर पानी देना सर्वथा वेदविरुद्ध है। "आम्र श्च सिक्ताः पितरश्च तृप्ताः" इत्यादि जो कहा है वहां पितृशब्दार्थ ऋतु है। आम्रवृक्ष वसन्तऋतु में मंजरी संयुक्त होता है। सो जितना ही आम्रसिक्त होगा उतना ही वसन्त में अपनी मंजरी की सुगन्धि से वसन्तऋतु-स्वरूप पितर को तृप्त करेगा क्योंकि जलसेक से आम्रवृक्ष अधिक मंजरी देता है।

तिलों का इतना माहात्म्य क्यों? जब कोई मरता है तब उस के सम्बन्धी उस के नाम पर तिलाञ्जलि देते हैं और प्रायः पितृकर्म्म में तिल का व्यवहार अधिक करते हैं। इस का भी क्या कारण है? निर्मूल कोई व्यवहार नहीं चला परन्तु हम लोग इस पर ध्यान नहीं देते इस हेतु मूल का पता नहीं लगता। इस के अनेक हेतु थे। तिल प्रायः कृष्णवर्ण का होता है और इस से तेल भी निकाला जाता है संस्कृत में 'तैल' शब्द तिल से ही सम्बन्ध रखता है संस्कृत भाषा में तैल को स्नेह भी कहते हैं "यत्किञ्चित्स्नेह-संयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम्। मनु। "प्रदीपः स्नेहमादत्ते दशयाऽभ्यन्तरस्थया" माघ "स्नेहो जलेऽणौ नित्मोऽयमनित्योऽवयविन्यसौ। तैलान्तरे

तत्प्रकर्षाद्दहनस्यानुकूलता " इत्यादि प्रयोगों में स्नेह नाम तेल का है परन्तु 'स्नेह' नाम प्रेम का भी है इन ही दो बातों पर ध्यान रख के विचारें कि तिलाञ्जलि का क्या आशय था। जब कोई वृद्ध अथवा देशहितैषी पुरुष मरता था तब बहुत से तिल दो अभिप्रायों से बांटे जाते थे एक तो शोक प्रकाशित करने के लिये क्योंकि अपने यहां कृष्ण पदार्थ शोकसूचक माना गया है। अब तक अंगरेज शोकावस्था में काला कपड़ा बांधते हैं। और दूसरा जैसे तिल स्नेह को धारण करता है वैसे ही आप लोग भी स्नेह अर्थात् प्रेम को धारण करें अर्थात् हम लोगों में से जो एक वृद्ध वा महान् पुरुष प्रस्थान कर गया है उस के चरित्र उस के विविध 'कृत' से सदा स्नेह रक्खें अर्थात् उस के 'कृत' की रक्षा के लिये हम जीवत्पुरुष सदा तत्पर रहें हम लोगों की भलाई के लिये वह जो कुछ कर गया उस के कृतज्ञ हम बने रहें। ये ही दो मुख्य भाव थे। और भी। रक्षक और वानप्रस्थाश्रमी दोनों प्रकार के पितृगणों को रात्रि में प्रकाश के लिये तेल की बड़ी आवश्यकता थी, प्राचीनकाल में तिलों से ही बहुधा तेल निकाला जाता था अतः पितृगणों को तिल बहुत दिया जाता था।

तिल-रक्षोघ्न-तिल को पापघ्न, रक्षोघ्न, असुरघ्न इत्यादि नाम देते हैं और यजुर्वेद के " अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः " २—२९ "अर्थात् यज्ञ—वेदी पर से असुर और राक्षस निकल जांय " इस मन्त्र को पढ़ कर आजकल यज्ञशाला में वा कर्मस्थान में तिल छींट देते हैं परन्तु तिल से और इस मन्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। तिल को रक्षोघ्न क्यों कहते हैं और क्यों तिल छींटते हैं अब इस का भाव समझना कठिन नहीं। अभी हम ने कहा है कि पूर्व समय में तेल इसी से निकाला जाता था। रात्रि में क्या वन क्या ग्राम में इस का तेल जलाया करते थे अब प्रकाश से कितने राक्षसों का हनन होसकता है इस को सोचिये प्रथम अन्धकार रूप महाराक्षस इस से नष्ट होता है। रात्रि में हिंसक जन्तु प्रकाश रहने पर आक्रमण नहीं कर सकते हैं। चोर डाकू रात्रिचर आदि दुष्ट पुरुष चोरी करने का साहस नहीं कर सकते हैं इत्यादि अनेकविध राक्षसों का हनन करनेवाला तिल है इसी कारण तेल का विक्रय भी निषेध और इस के दान का बड़ा माहात्म्य कहा है। चूंकि वनी पितरों को वन में रहने के कारण

और रक्षक पितरों को रात्रि में रक्षा के कारण तेल की अधिक आवश्यकता थी अतः पितृ-कर्म्म में इस का बहुत व्यवहार था । इस प्रकार तिलाञ्जलि और पितृ-कर्म्म में तिल प्रदान भी जीवत्पितृश्राद्ध सिद्ध करता है । जब धीरे २ मृतकश्राद्ध चलपड़ा तो जो जो पदार्थ जीवितों के लिये दिये जाते थे मृतकों को भी वहीं देने लगे और यथार्थ भाव को न समझ के इस के प्रयोग भी उलटा पुलटा करने लगे । इति ।

ईश्वर के नियम क्या हैं !

यह मृतकश्राद्ध ईश्वरके नियम से भी विरुद्ध है । ईश्वरका नियम है कि जो जैसा कर्म्म करेगा वैसा वह फल पावेगा । परन्तु श्राद्ध में यह नियम भग्न होजाता है क्योंकि पुत्र कर्म्म करता है पिता फल पाता है । और भी । यदि श्राद्ध करने से किसी की सद्-गति हो तो कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष प्राप्त होगा । मानो, कि, एक महाराज वा साहूकार बड़ा पापी है वह मर गया । इस का पुत्र लाखों रुपयों की सामग्री से श्राद्ध करता है । यदि इस श्राद्ध के फल से उस राजा को सद्गति होवे तो बड़ा अन्याय होगा क्योंकि उस ने जो जो पाप किए उन के बदले में उसे कुछ दण्ड नहीं मिला और जो कर्म्म उस ने नहीं किये थे उन कर्म्मों के फल मिलगए । इसी प्रकार, मानो, कि, एक तपस्वी वेदवित् स्वधर्म्मनिरत सर्वथा शुद्ध पुरुष है परन्तु वह महादरिद्र है । वह मर गया । इस का पुत्र निर्धन होने के कारण श्राद्ध नहीं करता है । अब विचारने की बात है कि क्या इस शुद्ध पुरुष को सद्गति मिलेगी या नहीं ? यदि कहो कि श्राद्ध नहीं होने के कारण उसे सद्गति नहीं मिलेगी तो यह अन्याय है क्योंकि उस ने जो शुभ कर्म्म किये उन के फल उसे नहीं मिले और जो कर्म्म नहीं किये उनके फल नरकादि गमन उसे मिल गए । यह अन्याय है । इसी दोष का नाम शास्त्रों में कृतहानि और अकृताभ्यागम है । इस कारण यह मृतकश्राद्ध ईश्वरीय–नियम–विरुद्ध है । और इस हेतु श्राद्ध से किसी को मुक्ति वा सद्गति हो तो परिणाम यह होगा कि धनाढ्य पुरुष पाप से नहीं डरेगा । क्योंकि समझेगा कि अन्त में श्राद्ध के बल से मुझे अच्छी गति तो मिलनी ही है । और दरिद्र सर्वदा दुःख में रहेगा कितने ही शुभ कर्म्म करे उसे सद्गति नहीं मिलेगी क्योंकि इस का श्राद्ध नहीं होगा । भाव यह है कि धनिक

पुरुष तो सर्वदा स्वर्गवासी और दरिद्र सर्वदा नरकवासी होगा। परन्तु यह ईश्वरीय नियम विरुद्ध बात है। अतः मृतकश्राद्ध सर्वथा वेद विरुद्ध है। पुनरपि विचारें कि यदि श्राद्ध से ही लाभ हो तो सारे कर्म्म ही निरर्थक हो जायगे अन्यान्य शुभ कर्म्मों की क्या आवश्यकता होगी "तू मत डर, पश्चात्ताप मतकर, तू पापी है तो क्या हर्ज है तेरा श्राद्ध अच्छे प्रकार करवा देवेंगे उस से तेरी अच्छी गति हो जायगी तू क्यों शोक करता है, देख श्राद्ध से अमुक को मुक्ति मिल गई" इस प्रकार के उपदेश किसी सद्ग्रन्थ में नहीं पाये जाते। प्रत्युत "जैसा कर्म्म करेगा वैसा ही फल पावेगा, अतः शुभ कर्म्म करले" इसी प्रकार के उपदेश पाये जाते हैं। और भी। मरने के बाद यह जीव अनेक योनि में चले जाते है। फिर किस योनि के अनुसार पिण्ड देंगे। यदि कहो कि मन्त्र के बल से वही पिण्ड उस २ योनि में तदनुकूल हो जाता है अर्थात् सांप का विष होके देव को अमृतहोके पहुंचता है। तो यह कहना ठीक नहीं क्या वेदों में ऐसा कोई प्रमाण है? नहीं। और प्रत्यक्ष में मन्त्र का कोई बल नहीं देखते। परीक्षा करके देखो, घर से बाहर गएहुए जीते को यदि तुम मन्त्र के बल से अन्न पहुंचा दो तो यह भी सत्य मान लेवेंगे। "मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्ति-कारणम्। गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थंपाथेयकल्पना" और आप भी तो किसी के पितर होंगे फिर आप को अन्न क्यों नहीं पहुंचता है क्यों आप व्यर्थ परिश्रम करते हैं। देखिये, जो जीव जहां हैं ईश्वर ने उनके खाने पीने को वहां ही बन्दोबस्त कर रक्खा है, कर्म्मानुसार सब कोई फल पा रहे हैं। अतः यह मृतकश्राद्ध सर्वथा त्याज्य है।

शंका—"स्वधा पितृभ्यो पृथिवीषद्भ्यः। स्वधा पितृभ्योऽन्तरिक्षसद्भ्यः। स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः" इस अथर्व के प्रमाण से सिद्ध है कि मृत पुरुष का श्राद्ध होना चाहिये क्योंकि अन्तरिक्षस्थ और द्युलोकस्थ पितरोंको कैसे बुला सकते हैं? समाधान। इन मन्त्रों में बुलाने की कोई बात नहीं है। वेद में यह विलक्षणता है कि प्रायः प्रत्येक वस्तु को तीनों स्थानों में माना है पृथिवी के पितर-माता, पिता आचार्य्य आदि अन्तरिक्ष के पितर-वायु, मेघ आदि द्युलोक के पितर-सूर्य्य किरण आदि। ईश्वर से प्रार्थना है कि भगवन्! आप सब पदार्थों को यथावस्थित रक्खें, हमारे लिये सब सुख

दायी होवें । स्वधा शब्दार्थ स्वप्रकृति है यह कह आए हैं त्रिभुवनस्थ पदार्थ अपने २ स्वभावानुकूल रहें ऐसी प्रार्थना है । अथवा वसु, रुद्र, आदित्य ये तीनों क्रम से पिता, पितामह और प्रपितामह कहाते हैं । वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् । प्रपितामहांस्तथादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी" दिविषद्=आदित्य । अन्तरिक्षसद्=रुद्र अर्थात् विद्युत् मेघ आदि । पृथिवीषद्=अग्नि, यह निरुक्त का सिद्धान्त है । हवन से ये सब शुद्ध रहते हैं । अतः प्रार्थना है कि अपने स्वभाव के अनुकूल सब पितर रहें । शङ्का-जो मुक्ति में भ्रमण कर रहे हैं अथवा किसी लोक में किसी रूप में हों उनको ये ही वसु, रुद्र, आदित्य तीनों देव पिण्ड पहुंचा दिया करेंगे । समाधान-नहीं ये तीनों जड़ हैं कैसे पहुंचावेंगे। यदि कहो कि इनके द्वारा पहुंच जायगा तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि इनके द्वारा तो प्राणीमात्र को जो सुख पहुंचता है वह पहुंच रहा है आप के देने लेने से कोई विशेषता नहीं होगी । सूर्य न हो तो हमें गरमी और प्रकाश नहीं मिल सकते हैं वायु विना क्षणमात्र में मरजायँ पृथिवी विना निर्वाह ही कैसे । यदि कहो कि चन्द्रलोक से निवृत्त पितर मेघ, पृथिवी, ओषधि आदि में कुछ काल वास करते हुए जन्म लेते हैं । इनको इस अवस्था में हवनसामग्रीवत् पिण्ड पहुंचा सकते हैं । यह कथन भी ठीक नहीं हवनसामग्री भस्म होने से अतिसूक्ष्म होजाने के कारण वायु आदि में प्रविष्ट हो वायु आदि को शुद्ध करती है पिण्ड तो ज्यों का त्यों बना रहता है । एवं इसप्रकार आप के पितरों को ही पहुंचे यह कोई नियम नहीं । जब वायु सुगन्ध लेके चलता है तो सामान्यतया सब को वह गन्ध पहुंचता है फिर आप के पिण्ड देने में क्या विशेषता । शङ्का-"श्राद्धे शरदः । शारदिकं श्राद्धम् । श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ श्राद्धी, श्राद्धिक०" इत्यादि पाणिनि महर्षि के प्रमाण से सिद्ध है कि शरद्ऋतु में अवश्य श्राद्ध करना चाहिये । समाधान । ठीक है । मैं यह कब कहता हूं कि श्राद्ध नहीं करना चाहिये । शरद्ऋतु में बृहत् श्राद्ध होना चाहिये यह मैं भी जोर शोर से कहता हूं झगड़ा तो जीते मुरदे के श्राद्ध का है । शङ्का-यदि जीते के लिये है तो शरद् में क्यों कहा । समाधान-यदि मुरदे के लिये है तो शरद् में क्यों कहा यह शङ्का दोनों में हो सकती है । इसका समाधान आप नहीं कर सकते हैं । परन्तु जीवत पुरुषों का

शरद् में क्यों श्राद्ध करना चाहिये इसके विषय में पीछे लिख चुका हूं। शरद् में बीमारी बहुत होती है इसी हेतु "जीवेम शरदः शतम्, शृणुयाम शरदः शतम्" इत्यादि प्रार्थना उक्त है इस कारण रक्षक पितरों की इस ऋतु में बड़ी आवश्यकता है और वर्षा के कारण वनी वृद्धपितरों की सेवा उचित रीति से नहीं होती इस ऋतु में नए नए अन्न भी हो जाते हैं अतः इस में विशेष श्राद्ध का विधान है। यह भी जीवित पुरुष का ही श्राद्ध सूचित करता है। मैंने अब बहुत कुछ निरूपण कर दिया है उसी को ही यदि कोई निष्पक्ष भाव से विचारेगा तो इसका तत्त्व विदित हो जायगा। इस प्रकरण के अन्त में गया सम्बन्धी कुछ लेख दे समाप्त करता हूं ॥

गयापिण्ड ॥

त्वदर्थंतु गयापिण्डो मया दत्तो विधानतः। तत्कथं नैव मुक्तोऽसि ममाश्चर्यमिदं महत् ॥ गयाश्राद्धान्न मुक्तिश्चेदुपायो नापरस्त्विह। प्रेत उवाच। गया श्राद्ध शतेनापि मुक्तिर्मे न भविष्यति। उपायमपरं किंचित्तद्विचारय साम्प्रतम् ॥ भाग० महा० ॥

गोकर्ण और धुन्धुकारी का यह संवाद है। धुन्धुकारी महापापी था मर के प्रेत हो गया। इससे गोकर्ण कहता है कि तेरे लिये विधानपूर्वक गया में पिण्ड दिये फिर तेरी मुक्ति क्यों नहीं हुई। यह बड़ा आश्चर्य मुझे लगता है। यदि गयाश्राद्ध से मुक्ति नहीं हुई तो दूसरा उपाय नहीं है। यह सुन प्रेत धुन्धुकारी कहता है कि सैकड़ों गयाश्राद्ध से भी मेरी मुक्ति नहीं हो सकती। दूसरा कोई उपाय विचारो। इस आख्यायिका का यही भाव है कि गया आदिकों में जो श्राद्ध किये जाते हैं वे निष्फल हैं और दूसरों के किये कर्म्म से दूसरों को कुछ लाभ नहीं पहुंचता। क्योंकि आगे माहात्म्य में कहा गया है कि इस प्रेत ने स्वयं जब भगवत् चरित्र श्रवण किया तब सब दुःखों से छूट मुक्त हुआ है। इति संक्षेपतः ॥

परिशिष्ट ॥

"पितृयज्ञ और श्राद्ध नाम"

प्राचीनग्रन्थों में इस का नाम 'पितृयज्ञ' शब्द मिलता है। उदाहरण के लिये

पिछला ग्रन्थ देखिये वेद में यह शब्द पाया जाता है। "तं हरामि पितृयज्ञाय" ऋ० इत्यादि। पश्चात् 'श्राद्ध' इस का नाम इस कारण से होगया है कि यह कर्म्म श्रद्धा से ही हो सकता है। अथवा इस में श्रद्धा स्वतः उत्पन्न होती है। बड़े २ वृद्ध-पुरुषों को बुलाके सत्कार करने में कितनी श्रद्धा उत्पन्न होती है स्वयं इस को सब कोई अनुभव कर सकता है। जो पिता, माता, पितामह आदि अपने पुत्र पौत्रों को गोद में खिलाते थे। आज वे उन्हीं पुत्र-पौत्रों को बड़े आनन्द से सांसारिक व्यवहार में प्रवृत्त देख बड़े आनन्दित होते हैं। पूज्य मान्य पितरों को घर पर देख सन्तानों के हृदय में एक अपूर्व श्रद्धा उत्पन्न होती है। इन से आशीर्वाद लेते हैं अपने बच्चों को आशीर्वाद दिलाते हैं। ऐसे श्रद्धे कभी २ वन से गृह पर आते थे इस कारण और भी श्रद्धा बढ़ती जाती थी। अभी तक लोग प्रत्येक शुभकर्म्म में बड़ी श्रद्धा से प्रथम वृद्धों को खिलाते हैं। इसी को आभ्युदयिक वा वृद्धश्राद्ध कहते हैं। अथवा कोई भी वृद्ध हो किसी अवस्था में हो उसको देखके ही भद्रपुरुष के हृदय में एक अपूर्व श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस कारण "चूडादिभ्य उपसंख्यानम्" इस वार्तिकद्वारा "श्रद्धा प्रयोजनमस्य इति श्राद्धम्" ऐसा कहा है। अब आगे अर्थ सहित कुछ वेदमन्त्र लिखे जाते हैं जो आजकल मृतकश्राद्ध कर्म्म में पढ़ते हैं।

वेद के कतिपय मन्त्र ॥

विश्वे देवास आगत शृणुताम इमं हवम्।
एतं बर्हिर्निषीदत। ऋ०। २। ४१। १३। यजु० ७। ३४।

अर्थ–(विश्वे+देवासः) हे सकल विद्वद्गण! (आगत) मेरे यज्ञ में आप लोग आवें। और आके (मे+इमम्+हवम्) मेरे इस यज्ञिय आह्वान अर्थात् वाणी को (शृणुत) सुनें अर्थात् यदि मेरे भाषण में मेरे कर्म्म में कोई त्रुटि हो तो उसे सुधार दें। और (इदम्+बर्हिः+आ+निषीदत) इस पवित्र आसन पर बैठें। यहां मैं यह भी यथासाध्य दिखलाता जाऊंगा कि किस २ मन्त्र से आजकल क्या क्या करते हैं। "आवाहयेदनुज्ञातो विश्वे देवास इत्यृचा" याज्ञवल्क्यस्मृति। इस से विश्वे देवों को आवाहन करते हैं। हां, ठीक है, मैं भी समझता हूं कि ईश्वर आज्ञा देता है कि विद्वानों को बुलाके सत्कार करना चाहिये। इस से मृतकश्राद्ध सिद्ध नहीं।

शन्नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये शं यो रभि-
स्रवन्तु नः । ऋ० १० । ९ । ४ । यजु० ३६ । १२ ।

(देवीः+आपः) ' आप्लृ व्याप्तौ ' वह सर्वत्र व्यापकदेव (नः) हमारे (अभि-ष्टये+पीतये) " पा रक्षणे " अभीष्ट और रक्षा के लिये (शम्+भवन्तु) सुखरूप होवें पुनः वह देव (नः) हमारे (शम्+योः) रोगों का शमन और भयों का यवन अर्थात् पृथक् करण इन दोनों की (अभिस्रवन्तु) वर्षा करे अर्थात् हमारे भय और रोग का नाश करे । अथवा (देवी+आपः) दीप्यमान जल (नः+अभिष्टये+पीतये) हमारे अभिषेक और पान के लिये (शम्+भवन्तु) सुखस्वरूप होवें (नः+शम्+योः+अभि-स्रवन्तु) वह जल हमारे रोग का नाश करे और भय का भी । अच्छे जल के पान से रोग नाश होता है । रोग के न रहने से आदमी निर्भय रहता है अतः जल भयनाशक भी है । इस में जल और ईश्वर दोनों का वर्णन है । " शन्नो देव्या पयः क्षिप्त्वा यवो-सीति यवांस्तथा " या० स्मृ० । इस से पानी छींटे । और " यवोसि " उस मन्त्र से जौ को । ऐसा याज्ञवल्क्य कहते हैं । छींटने से मृतपितरों को क्या लाभ ? आजकल अ-ज्ञानी पुरुष इस से शनैश्चर ग्रह का जप करते हैं ।

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा । सोमाय पितृमते स्वाहा ।
अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः । यजु० २ । २९ ।

कव्यवाहन अग्नि, पितृमान् सोम के लिये स्वाहा । और (वेदिषदः) वेदि पर बैठे हुए (असुराः+रक्षांसि+अपहताः) असुर और राक्षस अलग हो जायँ । अर्थात् दुष्ट पुरुषों को यज्ञ से पृथक् कर देना चाहिये । यह और " ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमा-नाः " (२-३०) " अत्र पितरो मादयध्वम् " (२-३१) " नमो वः पितरो र-साय " (२-३२) आधत्त पितरो गर्भम् (२-३३) और ऊर्जं वहन्तीः (२-३४) ये छवों मन्त्र पिण्ड पितृयज्ञ में पढ़े जाते हैं इन सबों का अर्थ पूर्व में कह आये हैं ।

नमो वः पितरो रसाय । नमो वः पितरः शोषाय । नमो
वः पितरो जीवाय । नमो वः पितरः स्वधायै । नमो वः पि-

तरो घोराय । नमो वः पितरो मन्यवे । नमो वः पितरः पितरो नमो वः । गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्म । एतद्वः पितरो वास आधत्त । यजु० । २ । ३२ ।

(पितरः) हे जगद्रक्षकगण (वः) आप के (रसाय नमः) आनन्दप्रद रूपको नमस्कार (पितरः वः+शोषाय+नमः) हे पितरो ! आप के दुष्ट के शोषण करने वाले रूपको नमस्कार । (पितरः+वः+जीवाय+नमः) पितरो ! आप के जीवनप्रद रूपको नमस्कार (पितरः+वः+स्वधायैनमः) हे पितरो ! आप के स्वपोषणधारणकर्ता रूपको नमस्कार (पितरः+वः+घोराय+नमः) हे पितरो ! आप के घोरस्वरूप को नमस्कार (पितरः वः+मन्यवे नमः) हे पितरो आप के म न्यु अर्थात् क्रोध रूप को नमस्कार (पितरः पितरः वः+नमः) हे पितरो२ ! आप के सकल रूपको नमस्कार हो। (पितरः+गृहान्+नः+दत्त) हे पितरो ! हम लोगों को भार्य्या-पुत्र पौत्रादि रूप गृह दो (सतः+वः+पितरः) हे पितरो ! हमारी रक्षा के लिये आए हुए आपको भी (देष्म) हम लोग भी देवें । (पितरः+वः+एतत्+वासः) हे पितरो ! यह वस्त्र आदि पदार्थ आप का ही है (आधत्त) उसको धारण पोषण करें ।

महीधर=" नमो व इत्यञ्जलिं करोति । षट् कृत्वो नमस्करोति । षड् ऋतवः इति श्रुतेः । रसादिशब्देन वसन्तादिषडृतव उच्यन्ते । ते च पितॄणां स्वरूपभूता अतस्तेभ्यो नमस्करोति ।" कहते हैं कि इस से पितरों को छः वार नमस्कार करना चाहिये । क्योंकि छवो ऋतु ही पितर हैं ऐसी श्रुति है । रसादि शब्द से वसन्तादि ऋतु का ग्रहण है । रस=वसन्त । क्योंकि मधु आदि रस इस में होते हैं शोष=ग्रीष्म=क्योंकि सब पदार्थ इस में सूखते हैं, जीव=वर्षा=क्योंकि जीवनप्रद वर्षा इस में होती है । स्वधा=शरद=क्योंकि प्रायः अन्न इस में होता है । घोर=हेमन्त=क्योंकि यह विषम ऋतु है । मन्यु=शिशिर=क्योंकि इस में अधिक जाड़ा पड़ने से मानो क्रोधस्वरूप है । इस प्रकार छवों शब्दों के छः ऋतु अर्थ करके पितरों को भी ऋतुस्वरूप मानते हैं । परन्तु यदि पितर ऋतुरूप हैं तो वस्त्रादिक पदार्थ किन को दिये जायंगे अतः यह मन्त्र

पितरों के स्वरूप बतलाता है। रक्षकों को अनेक रूप धारण करने पड़ते हैं दुष्टों के संहारार्थ घोररूप एवं शिष्टों के रक्षार्थ शान्त रूप। इत्यादि भाव जानना।

"एतद्वः पितरो वासः आधत्त" इतना पढ़ के पिण्डों पर सूत रखते हैं।

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः। तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिन् लोके शतं समाः। य० १९-५६।

(जीवेषु, जीव=प्राणियों में (ये+मामकाः+जीवाः) जो मेरे सम्बन्धी जीवित पुत्र पौत्रादिक (समानाः समनसः) समान और समनस्क हैं (तेषाम्+मयि) उन में और मुझ में। (शतम्+समाः+अस्मिन्+लोके) सौ वर्ष तक इस लोक में (श्रीः+कल्पताम्) धन धान्य ऐश्वर्य प्राप्त हो "इत्यवशिष्टानामेकं यजमानः प्राश्नाति नवा" आपस्तम्बश्रौतसू०। इस को पढ़ के यजमान पिण्डों में से एक पिण्ड खाता है। ऐसा सब ही कहते हैं। परन्तु इस में भोजन की चर्चा नहीं।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्। यजुर्वेदः २-३३।

(पितरः) हे पितरो! (गर्भम्+पुष्करस्रजम्+कुमारम्+आधत्त) गर्भ-स्वरूप अर्थात् लघुवयस्क पुष्पमालाविभूषित इस कुमार को धारण करो (यथा+इह+पुरुषः असत्) जिस से यहां यह अपने कुल परिवार के धारण पोषण योग्य पुरुष होवे। यह मन्त्र बतलाता है कि जब शिशु पढ़ने योग्य हो तो पितर अर्थात् आचार्यों को पढ़ाने के वास्ते सौंप देवे जिस से कि वह योग्य हो संसार के सकलकार्य्य क्षम होवे। परन्तु "इति तं पत्नी प्राश्नाति पुमांसं ह जानुका भवतीति विज्ञायते" आपस्तम्बश्रौतसूत्र (१-१०-१५) कहता है कि इस मन्त्र को पढ़ के पत्नी एक पिण्ड खाय उसी से उस को पुत्र होगा।

वाजे वाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः। अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः। य० ९।१८

(ऋतज्ञाः) सत्य विद्या जानने हारे (अमृताः) अपने यशःकीर्ति से नाशरहित "वसिष्ठादिक के समान" (वाजिनः) संग्राम के तत्त्व जानने वाले (विप्राः) ऐसे

जो विद्वान् राजपुरुष हैं वे (वाजे+वाजे+नः+अवत) जब जब संग्राम उपस्थित हो तब तब हम को प्राप्त होवें, एवम् (धनेषु) जहां २ धन हो वहां २ व रक्षा करें। इस प्रकार रक्षा करते हुए (अस्य+मध्वः+पिबत) प्रजा–प्रदत्त इस पुरस्कार रूप मधु को पीवें (मादयध्वम्) पुष्ट हो प्रजाओं को आनन्दित करें और (तृप्ताः+देवयानैः पथिभिः+यात) तृप्त होके जिस मार्ग से विद्वान् लोग जाते हैं उसी मार्ग से चलें। अर्थात् अहङ्कार वा अभिमान में निमग्न हो के उत्तम मार्गों का त्याग न करें। "इति पित्रादिविसर्जनम्। शब्दकल्पद्रुम। इस से पित्रादिकों" को विसर्जन करते हैं "वाजे वाजे इति प्रीतः पितृपूर्वं विसर्जनम्" याज्ञवल्क्यस्मृति ॥

आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्या देमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे। आमा गन्तां पितरा मातरा चा मा सोमो अमृतत्त्वेन गम्यात्। यजु ॥

(वाजस्य+प्रसवः) ज्ञान का भण्डार (मा+आ+जगम्यात्) मुझे प्राप्त हो (इमे+विश्वरूपे+द्यावापृथिवी) ये विश्वरूप द्यावापृथिवी प्राप्त हों अर्थात् मुझे पृथिवी और द्युलोकस्थ सकल पदार्थ प्राप्त हों (पितरा+मातरा+च) और पिता माता (मा+आ+गन्ताम्) भी मुझे प्राप्त हो (सोमः+च+अमृतत्वेन+मा+आ+गम्यात्) और सोम जो ईश्वर वह भी अमृतप्रद होके मुझे प्राप्त हो। "इति देवविसर्जनम्" शब्दकल्पद्रुमे।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे।

(विष्णुः) यह व्यापक ब्रह्म (इदम्+विचक्रमे) इस सम्पूर्ण जगत को विक्रान्त अर्थात् प्राप्त है (त्रेधा, पदम्, निदधे) ए मनुष्यो! इसने तीनों स्थानों में अपना स्थान रक्खा है परन्तु (पांसुरे) जैसे धूलि में कोई वस्तु ठीक नहीं दीखती है वैसे ही (अस्य) इसका स्थान (समूढम्) छिपा हुआ है। अथवा (विष्णुः) सूर्य अपने किरणों से इस भुवन में सर्वत्र फैल रहा है पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों स्थानों में यह अपने पद अर्थात् किरणों को निहित अर्थात् स्थापित करता है परन्तु (पांसुरे)

धूल में पदार्थ के समान (अस्य) इस का भी तत्त्व (समूढम्) छिपा हुआ है। इसका व्याख्यान निरुक्त और त्रिदेवनिर्णय में विस्तार से किया हुआ है। इस से वामन अवतार भी सिद्ध करते हैं। इस सब का समाधान त्रिदेव में देखिये " इदं विष्णुरि-त्यन्न द्विजाङ्गुष्ठं निवेशयेत्। या० स्मृ०। इस मन्त्र से ब्राह्मण के अंगुष्ठ को अन्न में लगा दे। क्या आश्चर्य है कहां इस का अर्थ और कहां अन्न में अंगुष्ठ रखवाना ॥

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा ।
अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः । यजु० । २ । २९ ॥

(कव्यवाहनाय+अग्नये+स्वाहा) कव्यवाहन अग्नि के लिये स्वाहा (पितृमते+सोमाय+स्वाहा) पितृमान् सोम के लिये स्वाहा (वेदिषदः) वेदि पर बैठनेवाले (असुरा+रक्षांसि) असुर और राक्षस अर्थात् अत्यन्त दुष्ट पुरुष (अपहताः) नष्ट होवें।

ये रूपाणि प्रति मुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।
परापुरोनिपुरो ये भरन्त्याग्निष्टान् लोकात् प्रणुदात्यस्मात्। य० २। ३०

(असुराः+सन्त) असुर अर्थात् दुष्ट होने पर भी (ये+रूपाणि+प्रतिमुञ्चमानाः) जो पितृसमान रूपों को धारण कर (स्वधया+चरन्ति) पितृसम्बन्धी चिन्ह के साथ (चरन्ति) विचरण करते हैं और जो (परा पुरः) उत्तम शरीर और (निपुरः) नि-कृष्ट शरीरों को (भरन्ति) धारण करते हैं (तान्) उनको (अस्मात्+लोकात्) इस लोक से (अग्निः) प्रकाशस्वरूप देव (प्रणुदाति) दूर प्रेरित करे। परा पुरः=पुर= पुरी ग्राम। शरीररूप ग्राम। परापुर=उत्कृष्ट शरीर, निपुर=निकृष्ट पुर।

पुनर्नःपितरो मनो ददातु दैव्यो जनः जीवं व्रातं सचेमहि य० ३। ५५।

(पितरः) हे पितरो (नः) हमको आप की कृपा से (दैव्यः+जनः) देव पुरुष (पुनः+मनः+ददातु) फिर मन देवें। उस मन से सत्यानुष्ठान करके (जीवम्+व्रातम्) जीवनवाले पशु पुत्र पौत्रादिक गणों की (सचेमहि) सेवा करें। सच=सेवायाम्।

मरणकालिकप्रार्थना ॥

अब अन्त्यादय चार ऋचाएं आगे अर्थ सहित लिखते हैं, जो मरण समय की प्रार्थ-

ना है । इन ऋचाओं में भी आज कल के श्राद्ध का कोई भाव नहीं पाया जाता है ! केवल ईश्वर से प्रार्थना की जाती है कि वह तुम्हें उत्तम लोक में ले जाय, मुक्त पितरों के साथ मिलादे । जहां पुण्यात्मा पुरुष जाते हैं वहां तुम्हें भी वह देव पहुंचा दे । वह अभय और कल्याण देनेहारा है वह सब की दशा जानता है । वह सर्वत्र व्यापक है। वह तेरे मार्ग में परम सहायक होगा । तू चिन्ता मत कर तुझे सुखपूर्वक वह यहां से ले जायगा । तू अब स्थिर हो उसी में चित्त लगा । इत्यादि मनुष्य स्वभाव का क्या ही उत्तम वर्णन आता है । इन चारों के बारे में सायण लिखते हैं कि "दीक्षितमरणे पूषात्वेत इत्याद्याश्चतस्रः शंसनीयाः । सूत्रितञ्च पूषात्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वाविति चतस्रः"॥ यदि कोई अग्निहोत्रादि युक्त पुरुष मरे तो "पूषात्वेतः" इत्यादि चार ऋचाएं पढ़ें । परन्तु मैं कहता हूं कि दीक्षित पुरुष के मरण के बाद पढ़ने से क्या लाभ, किन्तु मरण के समय में ये पढ़ी जायं और सब के लिये पढ़ी जायं ।

पूषा त्वेत च्यावयतु प्रविद्वान नष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः । स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥ १० । १७ । ३ ॥

(पूषा) सब का पोषण करनेवाला ईश्वर (त्वा) तुम को (इतः) इस मर्त्यलोक से (प्रच्यावयतु) प्रकृष्ट उत्तम लोक में लेजाय वह पूषा कैसा है (विद्वान्) निखिल जीवों के धर्म्माधर्म्म का परिज्ञाता, पुनः (अनष्टपशुः) जिन के निकट से ये जीवरूप पशु कदापि नष्ट नहीं होते । सर्वत्र व्यापक होने से ईश्वरीय राज्य से कोई जीव छिप नहीं सकता, अतः कोई यह चाहे कि मैं बड़ा पापी हूं ईश्वर से छिप जाऊं अथवा भाग जाऊं यह नहीं हो सक्ता अतः कहा गया है कि वह अनष्ट पशु है । पुनः (भुवनस्य, गोपाः) जगत् का रक्षक (सः, अग्नि) वह सब को राह दिखलाने हारा प्रकाशस्वरूप ईश्वर (त्वा) तुमको (सु + विदत्रियेभ्यः) परमज्ञानी अर्थात् मुक्त (एतेभ्यः + पितृभ्यः + देवेभ्यः) इन देव पितरों को (परिददत) देवे अर्थात् जहां मुक्त जीव हैं वहां तुम को स्थापित करे । इस से मुमूर्षु को शान्ति दीगई कि वह तुम को अच्छी गति देवेगा और मुक्त जीवों के साथ तुम भी मिलोगे ।

आयुर्विश्वायुः परिपासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥४॥

(आयुः+विश्वायुः) व्यापक, सर्वत्र व्यापक वह देव (त्वा+परि+पासति) तुम को सब तरह से पाले । (पूषा) वह पोषयिता ईश्वर (पुरस्तात्) तुम्हारे आगे वर्त्तमान है वह (त्वा) तुम को (प्रपथे) मार्ग में (पातु) रक्षा करे (यत्र+सुकृतः आसते) जहां सुकृत अर्थात् सुकर्म्म करने हारे रहते हैं और (यत्र+ते+ययुः) जहां वे अपने धर्म्मबलसे जाते हैं या गये हुए हैं । (सविता+देवः) सब का प्रेरक पहुँचाने हारा वह ईश्वर (त्वा)तुम को (तत्र+दधातु) वहां स्थापित करे । आयुः,-आयाति आगछति सर्वत्र व्याप्नोतीति । विश्वायुः, विश्वमागच्छति व्याप्नोतीति विश्वायुः । सविता–प्रेरयिता प्रापकः । यहां कहा गया है कि वह ईश्वर सर्वत्र है तुम को अच्छे प्रकार मार्ग में रक्षा कर के उत्तम लोक में लेजायगा । अथवा वह आप आयुर्दा देने वाला है इस से भी उत्तम आयु तुम को देगा । हे जीव ! इस हेतु इसी की शरण जाओ

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥५॥

(पूषा) वह पोषयिता ईश्वर (सर्वाः+इमा+आशाः अनु×वेद) इन सब दिशाओं को आनुपूर्विक जानता है (सः+अस्मान्) वह हम को (अभयतमेन) अतिशय निर्भय मार्ग से (नेषत्) लेचले । वह कैसा है (स्वस्तिदाः) कल्याणप्रद । पुनः–आघृणिः) परमकृपालु अथवा परम तेजस्वी । (सर्ववीरः) सब के प्रेरणा करनेहारा (अप्रयुच्छन्) अप्रमादी अर्थात् सवर्था निरालस्य, पुनः (प्रजानन्) सब के शुभाशुभ कर्मों का जानने हारा, ऐसा जो परमेश्वर है वह—(पुरः+एतु) मेरे आगे २ चले । यदि पढ़ सके तो मुमूर्षु इस ऋचा को पढ़के ईश्वर से एकाग्र हो प्रार्थना करे और अपने धर्म्माधर्म पर पश्चात्ताप करे ।

प्रपथे पथा मजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ६

[illegible] (सर्वेषाम्) सब मार्गों में से (प्रपथे) उत्तम मार्ग में (पृथिवी+अन्तरिक्षे) [illegible] वर्त्तमान है (दिव+प्रपथे) द्युलोक के उत्तम मार्ग में (पृथिव्याः+प्रपथे) पृथिवी के उत्तम मार्ग में वह विद्यमान है और (उभे+प्रियतमे) (सधस्थे) दोनों प्रियतम स्थान में (अभि+चरति) विचरण करता है और (प्रजानन्) सब की सब दशा जानता हुआ वह (आ+चरति) सुकर्म्मी-पुरुषों के अनुकूल आचरण करता है। (परा, चरति, च) दुष्कर्मी पुरुषों के प्रतिकूल आचरण करता है।

इतिश्री मिथिलादेशान्तर्गत दरभंगा-निकटस्थ 'चहुटा' ग्राम निवासि-

शिवशङ्कर शर्म्मा विरचितः श्राद्धनिर्णयः समाप्तः।

चतुर्थः समुल्लासः समाप्तः॥